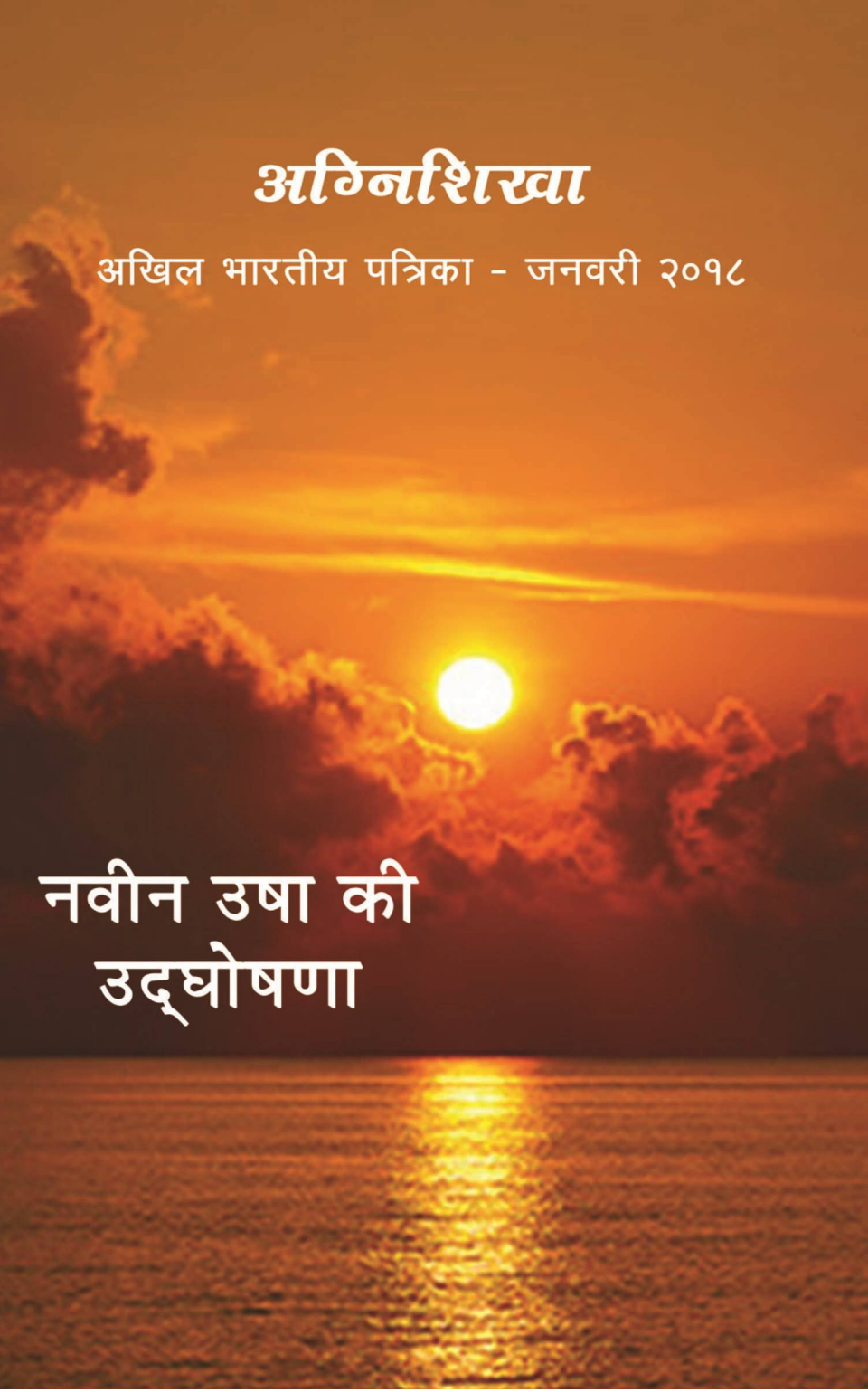
अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका - जनवरी २०१८
नवीन उषा की
उद्घोषणा

विषय-सूची

(नवीन उषा की उद्‌घोषणा)

(श्रीअरविन्द-श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
नववर्ष की दो प्रार्थनाएँ	४
नववर्ष के कुछ सन्देशों पर श्रीमाँ की टिप्पणियाँ	६
एक देवता का श्रम	१६
एक दिन	२१
नववर्ष का संगीत	३३
परिवर्तन की चाबी	३४

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		३५
सब कुछ और सब जगह भगवान्	श्रीअरविन्द	३९
"अवतीर्ण हुई तुम कौन" *(एक उद्‌गीत)*	मोना सरकार	४१
जीने की कला—आध्यात्मिकता	नलिनीकान्त गुप्त	४३
श्रीअरविन्द का पूर्णयोग	स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'	४६
'नयी कोंपलें' : तुझे...	शाम्भवी	५१
मेरा केसरी जीता, सिंह हारा	वन्दना	५३

एक दैनिक प्रार्थना

हे प्रभो, मुझे भय और चिन्ता से मुक्त कर,
ताकि मैं अपनी अधिक-से-अधिक योग्यता के साथ
तेरी सेवा कर सकूँ।

—श्रीमाँ

सन्देश

मैं आशा करती हूँ कि यह नया साल तुम्हारी आत्मा के पुनर्जागरण और तुम्हारी चेतना में प्रगति के संकल्प के जागरण को देखेगा। —श्रीमाँ

सम्पादकीय : नये साल का आगमन एक परिपाटी है, फिर भी हममें से प्रत्येक नूतन वर्ष को अपनी नवीन खोजों, नूतन प्रारम्भों तथा प्रयासों को पुनरुज्जीवित करने के लिए सुअवसर के रूप में ले सकता है। इस भाँति, भूतकाल के उन बोझों से हम पल्ला झाड़ सकते हैं जो हमें पीछे की ओर खींचते रहते हैं। प्रत्येक नववर्ष भविष्य में क़दम उठाने का दिवस है।

हर साल श्रीमाँ नूतन वर्ष के लिए सन्देश दिया करती थीं। उन सभी सन्देशों का संकलन हमने 'अग्निशिखा' जनवरी २०१७ के अंक में दिया है। इस अंक में हम उन सन्देशों पर की गयी श्रीमाँ की व्याख्याएँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

आश्रम में नववर्ष का स्वागत सवेरे ध्यान के समय श्रीमाँ के संगीत से किया जाता है। आश्रम के संगीतज्ञ सुनील-दा हर नये साल पर नूतन संगीत-रचना किया करते थे। यह सिलसिला उनके देहान्त (१९९८) तक चला। अब भी हर पहली जनवरी को, ध्यान के समय, उन्हीं की पुरातन संगीत-रचनाएँ बजायी जाती हैं। इसी को हम 'माँ का संगीत' कहते हैं।

श्रीमाँ का दिव्य संगीत और उनके सन्देश अभीप्सुओं को उच्चतर जीवन की ओर प्रेरित करते हैं। इस वर्ष के लिए आइये हम सब मिल कर प्रार्थना करें कि प्रत्येक दिवस, प्रत्येक मास और प्रत्येक बरस हमें उनके अधिक निकट, अधिकाधिक निकट ले आये जो माँ 'सर्व-महिमा', 'सर्व-सौन्दर्य', 'सर्व-ज्ञान', 'सर्व-शक्ति' और 'सर्वानन्द' हैं।

नववर्ष की दो प्रार्थनाएँ

२९ दिसम्बर १९१३

हे प्रभो, वर दे कि वर्षान्त का यह सामूहिक समागम हमारे लिए एक ही साथ उन बन्धनों और आसक्तियों, भ्रमों और दुर्बलताओं के पुञ्ज को समाप्त करने का अवसर भी हो जिनका हमारे जीवन में बने रहने का अब कोई कारण नहीं है। हमें हर क्षण भूतकाल को गिरती हुई धूल की तरह झाड़ते रहना चाहिये ताकि वह उस अछूते पथ को मैला न कर सके जो हर क्षण हमारे आगे खुल रहा है।

वर दे कि हमारे अन्दर पहचानी और सुधारी गयी भूलें व्यर्थ की मृगतृष्णाओं से बढ़ कर कुछ न हों जो कोई परिणाम लाने में असमर्थ हों और वर दे कि हम उस सब को जिसे नहीं रहना चाहिये, सभी अज्ञानों, सभी अन्धकारों, सभी अहंकारों को दृढ़ता के साथ कुचलते हुए, बहादुरी से उन विशालतर क्षितिजों और अधिक तीव्र प्रकाश, अधिक पूर्ण अनुकम्पा, अधिक निःस्वार्थ प्रेम की ओर... तेरी ओर उड़ान भरें।

हे प्रभो, हे हमारे जीवन के स्वामी, मैं तेरा अभिवादन करती हूँ, मैं सारी पृथ्वी पर तेरे राज्य की घोषणा करना चाहती हूँ।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ३०

सामूहिक अभीप्सा की शक्ति
एक सामञ्जस्यपूर्ण सामूहिक अभीप्सा घटनाओं के मोड़ को बदल सकती है।
वानस्पतिक नाम :
Hoya carnosa

१ जनवरी १९१४

हे समस्त वरदानों के परम वितरक, तुझे, जो इस जीवन को शुद्ध, सुन्दर और शुभ बना कर उसे औचित्य प्रदान करता है, तुझे, हे हमारी नियति के स्वामी, हमारी अभीप्साओं के लक्ष्य, इस नये वर्ष का पहला क्षण समर्पित था।

कृपा कर कि इस समर्पण के कारण यह पूरी तरह से महिमान्वित हो; जो तुझे पाने की आशा करते हैं, वे तुझे ठीक मार्ग से ढूँढ़ें; कृपा कर कि जो तुझे ढूँढ़ते हैं वे तुझे पा लें और जो यह जाने बिना कष्ट पाते हैं कि सच्चा उपचार कहाँ है वे यह अनुभव करें कि तेरा जीवन थोड़ा-थोड़ा करके उनकी अँधेरी चेतना की कठोर पपड़ी को छेदता जा रहा है।

मैं प्रगाढ़ भक्ति और असीम कृतज्ञता के साथ तेरी हितकारी भव्यताओं के आगे प्रणत हूँ। पृथ्वी की ओर से मैं तुझे अपने-आपको प्रकट करने के लिए धन्यवाद देती हूँ। मैं उसकी ओर से तुझ से याचना करती हूँ कि तू अपने-आपको 'प्रकाश' और 'प्रेम' की अबाध वृद्धि में अधिकाधिक अभिव्यक्त कर।

हमारे विचारों, हमारे भावों, हमारे कर्मों का प्रभुसत्तासम्पन्न स्वामी हो जा।

तू ही हमारी सत्ता की यथार्थता, एकमात्र 'सद्वस्तु' है।

तेरे बिना सब कुछ मिथ्या और भ्रम है, सब कुछ दुःखपूर्ण अन्धकार है।

तेरे अन्दर ही है जीवन, ज्योति और आनन्द। तेरे ही अन्दर है परम शान्ति।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १, पृ. ३०-३१

प्रभु का प्रेम

प्रेम का स्पन्दन जिसे 'परम' किसी विशेष बिन्दु (किसी व्यक्ति या वस्तु) की ओर भेजते हैं।

वानस्पतिक नाम : Rosa

नववर्ष के कुछ सन्देशों पर श्रीमाँ की टिप्पणियाँ

१९४३

"वह समय आ गया है जब हमें एक चुनाव, मौलिक और सुनिश्चित चुनाव करना होगा।

हे प्रभो! हमें ऐसी शक्ति दे कि हम मिथ्यात्व का त्याग कर सकें, पवित्र और तेरी विजय के उपयुक्त पात्र बन कर तेरे सत्य में ऊपर उठ सकें।"

यह सामान्य सिद्धान्त का प्रश्न नहीं है; यह वस्तुओं की वास्तविकता से सम्बन्ध रखता है। असुर मिथ्यात्व की शक्ति है और भगवान् का विरोधी है। सारे भौतिक जगत् पर वह मानों एकछत्र राज करता है। उसका प्रभाव हर जगह, जड़ जगत् की हर चीज़ में अनुभव होता है। लेकिन अब समय आ गया है जब इन्हें अलग और शुद्ध किया जा सकता है, मिथ्यात्व और आसुरिक प्रभाव का वर्जन कर भागवत सत्य में अनन्य भाव से रहा जा सकता है।

३ जनवरी १९४३

१९४७

यह प्रार्थना नहीं है बल्कि एक प्रोत्साहन है।

वह प्रोत्साहन और उसकी व्याख्या इस प्रकार है :

"जिस समय हर चीज़ बुरी से अधिक बुरी अवस्था की ओर जाती हुई प्रतीत होती है, ठीक उसी समय अपनी महती श्रद्धा का परिचय देना चाहिये और यह जानना चाहिये कि भगवत्कृपा कभी हमारा साथ नहीं छोड़ेगी।"

उषा से पहले की घड़ियाँ सदा ही घनघोर अन्धकार से भरी होती हैं।

स्वतन्त्रता आने से ठीक पहले की परतन्त्रता सबसे अधिक दुःखदायी होती है।

परन्तु श्रद्धा से मण्डित हृदय में आशा की वह सनातन ज्योति जलती रहती है जो निराशा के लिए कोई अवकाश नहीं देती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १९४-९५

१९६१

"आनन्द की यह अद्‌भुत सृष्टि, धरती पर उतरने के लिए हमारी पुकार की प्रतीक्षा में हमारे द्वारे खड़ी है..."

क्या "आनन्द की यह सृष्टि" वही अतिमानसिक नयी सृष्टि है जिसका जन्म २९ फ़रवरी, १९५६ को हुआ था, या यह भिन्न है? चूँकि आपने इसे "आनन्द की सृष्टि" कहा है अतः वह मात्र उस 'अतिमानसिक जगत्' का 'आनन्द' या 'परमानन्द' नहीं हो सकती जिसका जन्म हो चुका है। क्या इसका यह अर्थ है कि अतिमानसिक सृष्टि की अभिव्यक्ति के बाद धरती पर अभिव्यक्त होने के लिए एक और नयी सृष्टि हमारी पुकार की प्रतीक्षा में हमारे द्वारे खड़ी है?

सृष्टि के आरम्भ से ही वह हमेशा प्रतीक्षा करती रही है।

क्या यह जगत् आनन्द का जगत् है जो अस्तित्व के सौपानिक क्रम में अतिमन के जगत् के ऊपर स्थित है? अगर ऐसा है तो क्या इसका यह अर्थ है कि अपने जन्म के छह वर्ष बाद एक और अधिक उच्च जगत् की अभिव्यक्ति के लिए अतिमानसिक सृष्टि धरती पर पर्याप्त रूप से सुस्थापित हो गयी है?

आवश्यक रूप से नहीं।

ऊपर का प्रश्न इसलिये मन में उठता है क्योंकि श्रीअरविन्द के अनुसार आनन्द का स्तर पार्थिव क्रमविकास में तब तक अभिव्यक्त नहीं हो सकता जब तक उसके अन्दर अतिमानस अच्छी तरह से स्थापित न हो।

यह एकदम स्पष्ट है।

"प्रतीक्षा में हमारे द्वारे खड़ी है" का क्या मतलब है? क्या इसका यह अर्थ है कि यह सूक्ष्म-भौतिक स्तर पर उतर चुकी है?

मैंने ठीक-ठीक यह नहीं कहा कि वे दरवाज़े कौन-से हैं।

"धरती पर उतरने के लिए हमारी पुकार की प्रतीक्षा में हमारे द्वारे खड़ी है..." क्या इसका यह अर्थ है कि जब तक उसे बुलाया न जाये वह धरती पर नहीं उतरेगी?

निश्चय ही नहीं।

आनन्द के इस जगत् को धरती पर उतारने का सबसे अच्छा तरीक़ा कौन-सा है?

समझो और निष्कपट बनो।

क्या आपके उन पाँच फ़ोटो का आनन्द के जगत् को नीचे उतारने के साथ कोई सम्बन्ध है जिनमें से हर एक को आपने शीर्षक दिया है और जिन्हें आपने २१ जनवरी १९६१ को बाँटा था? अगर वे पुकार के लिए सहायता के रूप में दिये गये हैं, तो इस उद्देश्य के लिए उन्हें हम किस तरह अच्छे-से-अच्छे उपयोग में लायें?

यह हर एक को अपने लिए खोजना होगा।

इस जगत् को नीचे उतारने के लिए क्या यह सहायक होगा कि आपके सन्देश को आवाहन में परिवर्तित करके, शान्त एकाग्रता के साथ इस तरह दोहराया जाये: "हे आनन्द की अद्‌भुत सृष्टि, जो पुकार की प्रतीक्षा में हमारे द्वारे खड़ी है, धरती पर उतर आओ..."

जो सहज रूप से यह करना चाहें, उनके लिए यह सहायक होगा।

सन्देश के अन्त में बिन्दु यह आभास देते हैं मानों कुछ अनकहा रह गया। क्या ऐसी बात है?

हमेशा कुछ-न-कुछ—बहुत-सी चीज़ें—अनकही छोड़ दी जाती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १९६-९८

भविष्य के लिए काम करना

१९७०

जगत् एक बहुत बड़े परिवर्तन की तैयारी कर रहा है। सहायता करोगे?

नववर्ष के सन्देश में आपने जिस महान् परिवर्तन के बारे में कहा है उसमें हम किस तरह सहायता कर सकते हैं?

सहायता करने का सबसे अच्छा तरीक़ा है—धरती पर जो परम चेतना उतरी है उसे अपने अन्दर रूपान्तर का कार्य करने देना।

*

"भविष्य के लिए काम करने" का क्या अर्थ है?

आरम्भ करने के लिए, पुरानी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय आदतों से चिपके न रहना।

*

वर दे, यह वर्ष सच्ची दयालुता से—जो 'भागवत अनुकम्पा' की मानव सन्तान है—आने वाले आनन्द की दीप्तिमान शान्ति का वर्ष हो।

हम यह आशा भी करें कि यह वर्ष हमें एक बार फिर से एक साथ लाये बिना न गुज़रे।

वर दे, नववर्ष की उषा हमारे लिए भी एक नये और अधिक अच्छे जीवन की उषा हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. २००-०१

अतिमानसिक उपलब्धि की घोषणा

१९५६

सन् १९५६ का नववर्ष-सन्देश : "बड़ी से बड़ी विजयें कम-से-कम शोर मचाती हैं। किसी नवीन जगत् की अभिव्यक्ति की घोषणा ढोल पीट कर नहीं की जाती।"

माँ! इस साल जो सन्देश आपने दिया है, क्या कृपया उसकी कुछ व्याख्या करेंगी?

इसका मतलब शायद एक बहुत सरल-सी बात है : वस्तुओं के विषय में कुछ बोले बिना उन्हें होने देना कहीं अधिक अच्छा है। यदि तुम मुझसे पूछो, मैं समझती हूँ कि यही इसका मतलब है : किसी बात के होने से पहले उसके विषय में कुछ न कहना बहुत अधिक अच्छा है। अन्यथा, वह वही हो जाता है जिसे मैं ढोल पीटना कहती हूँ, जिसे नगाड़ा बजाना कहा जा सकता है।

यह बात उन लोगों की तरह है जो यह पूछते हैं : "यह कैसा होगा?" हम देखेंगे! ठहरो, कम-से-कम कोई आश्चर्यजनक बात तो होनी ही चाहिये!...और मैं उत्तर देती हूँ : "मैं इस विषय में कुछ नहीं जानती।" क्योंकि मैं तुरन्त, जैसा कि यह जगत् है उसकी चेतना में चली जाती हूँ, जिसके सामने यह घोषित किया गया है कि असाधारण चीज़ें होने जा रही हैं और जो उनके विषय में कल्पना करने में एकदम असमर्थ है—क्योंकि, जैसा कि एक बार मैंने तुम्हें बताया था, यदि मनुष्य उनके विषय में कल्पना करना आरम्भ कर दे तो इसका मतलब है कि वे चीज़ें **पहले से ही** हैं। किसी चीज़ की कल्पना करने में समर्थ होने के लिए यह आवश्यक है कि वह चीज़ विद्यमान हो, अन्यथा तुम उसके विषय में कल्पना नहीं कर सकते।

हाँ, अपनी उच्चतर सत्ता में हम इस बात का बहुत स्पष्ट, बहुत यथार्थ, बहुत उज्ज्वल ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं कि वह चीज़ क्या है। परन्तु हम यदि जड़-भौतिक चेतना में नीचे आ जायें तो हमें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि "हम उस विषय में कुछ नहीं जानते।" जब वह चीज़ यहाँ होगी तो मैं तुम्हें बताऊँगी कि वह कैसी है—और सम्भवतः तुम्हें यह

बताने की आवश्यकता भी नहीं होगी, तुम स्वयं उसे देख सकोगे। मुझे आशा है कि तुम उन लोगों में होगे जो उसे देखने में सक्षम होंगे। और फिर ऐसे लोग भी होंगे जो वैसा करने में (देखने में) समर्थ नहीं होंगे।

अतः, ऐसा करने से क्या लाभ? घूम-घूम कर लोगों से यह कहते रहने का क्या लाभ: "यह रही वह चीज़, समझे, यह इस तरह की है?" वे उत्तर देंगे, जैसा कि उस नाटक में दिया गया था जिसका यहाँ अभिनय हुआ था: "परन्तु मैं तो कुछ नहीं देखता!" तुम्हें याद है, वह नाटक था 'ल साज्'—Le Sage—(ज्ञानी व्यक्ति)? क्या तुम्हें याद नहीं है कि 'ल साज्' में सन्देशवाहक कहता है कि भगवान् तुम्हारी बात सुन रहे हैं, वे विद्यमान हैं। और तब कोई व्यक्ति उत्तर देता है: "परन्तु मैं तो उन्हें नहीं देखता!" यह वैसी ही बात है।

यह उन लोगों के जैसा है जो आश्रम देखने के लिए आते हैं और कहते हैं: "परन्तु यहाँ कोई आध्यात्मिकता नहीं है!"... भला वे इसे कैसे देख सकते हैं? किन इन्द्रियों के द्वारा?

पर फिर भी, मैं यह अवश्य आशा करती हूँ कि जब कोई चीज़ अभिव्यक्त होगी, तुम उसे देखने में समर्थ होगे।

स्वभावतः, यदि एकाएक ज्योतिर्मय आविर्भाव हो जाये, अथवा बाहरी भौतिक आकार पूर्णतः बदल जायें, हाँ तब, मैं समझती हूँ कि कुत्ते-बिल्ली तक या हर चीज़, चाहे वह कुछ क्यों न हो, उसे देख सकेगी। परन्तु ऐसा होने में समय लगेगा, वह चीज़ वर्तमान क्षण के लिए नहीं है। यह इस मुहूर्त के लिए नहीं है, यह बहुत दूर की बात है, बहुत बाद के समय के लिए है। उससे पहले बहुत-सी महान् चीज़ें होंगी, और ये चीज़ें उसकी अपेक्षा बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होंगी, इस बात पर ध्यान दो।

क्योंकि वह चीज़, वह तो केवल पुष्प है जो खिलता है। पर उसके खिलने से पहले, उसके जीवन का सार-तत्त्व पौधे की जड़ में अवश्य होना चाहिये।

यदि कोई अभिव्यक्ति हो तो क्या वह शुद्ध रूप में आध्यात्मिक होगी, अर्थात्, क्या केवल वे ही लोग उसे देखने-समझने में समर्थ होंगे जो योग करते हैं, या तथ्यों के जगत् में भी उसके परिणाम उत्पन्न होंगे?

मेरे बच्चे! तुम इसे भविष्य-काल में क्यों रख रहे हो?

वर्षों से संसार में असामान्य, विलक्षण परिणाम उत्पन्न होते रहे हैं। परन्तु इसे देखने के लिए, मनुष्य में थोड़ा ज्ञान होना चाहिये; नहीं तो वह उन्हें बिलकुल मामूली और साधारण बातें समझ लेता है—क्योंकि मनुष्य यह जानता भी नहीं कि वे होती कैसे हैं।

अतएव शायद यह चीज़ भी ठीक वैसी ही होगी; ऐसी सम्भावना है कि बहुत प्रबल परिवर्तन होंगे, अद्‌भुत कर्म सम्पन्न होंगे, और, मनुष्य कहेंगे: "परन्तु यह—स्वभावतः, यह वैसा ही है," क्योंकि मनुष्य यह नहीं जानता कि यह कैसे हो जाता है।

संसार में क्रिया?—वह निरन्तर हो रही है। वह ऐसी चीज़ है जो फैलती है और सर्वत्र कार्य करती है, सब जगह नवीन प्रोत्साहन, नवीन जागृति, नवीन विचार, संकल्प-शक्ति के नवीन कर्म प्रदान करती है—सर्वत्र। पर फिर भी, मनुष्य चूँकि यह नहीं देखता कि यह कैसे हो रहा है, जैसा कि कहा जाता है, वह इसे "एकदम स्वाभाविक" समझता है।

यह बिलकुल स्वाभाविक है, परन्तु सामान्य भौतिक 'प्रकृति' की स्वाभाविकता से भिन्न दूसरे प्रकार की स्वाभाविकता इसमें है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ११-१३

हमेशा स्थिर और शान्त रहो

हमेशा स्थिर और शान्त रहने के लिए बहुत सावधान रहो और सम्पूर्ण समचित्तता को अधिकाधिक पूर्णता के साथ अपनी सत्ता में प्रतिष्ठित होने दो। अपने मन को बहुत ज़्यादा सक्रिय होकर हो-हल्ले और विक्षोभ में न रहने दो, चीज़ों के ऊपरी आभास से ही परिणामों तक न जा पहुँचो। जल्दबाज़ी न करो, एकाग्र होकर स्थिरता में ही निश्चय करो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १४६

पार्थिव प्रकृति का सहयोग

१९५८

हे प्रकृति, पार्थिव माता,
तूने कहा है कि तू सहयोग देगी,
और तेरे इस सहयोग की श्री-शोभा
और महिमा का कोई ओर-छोर नहीं।

मधुर माँ, क्या आप इस वर्ष के सन्देश को समझायेंगी?

मैं तुमसे केवल एक बात कहना चाहूँगी : इस अनुभूति का ग़लत अर्थ मत लगाना, यह कल्पना मत कर बैठना कि बस अब सब कुछ बिना किसी कठिनाई के, और हमारी निजी इच्छाओं के अनुरूप सम्पन्न होगा। यह इस लोक की बात नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि जब हम वर्षा न चाहें तो वह नहीं बरसेगी! हम दुनिया में कोई घटना घटते देखना चाहें तो वह तुरन्त घट जायेगी; सारी-की-सारी कठिनाइयाँ लुप्त हो जायेंगी, सब कुछ परी-कथाओं जैसा होगा। नहीं, ऐसा नहीं है। बात कहीं अधिक गहन है। जो नयी शक्ति अभिव्यक्त हुई है उसे 'प्रकृति' ने अपनी शक्तियों की क्रीड़ा में स्वीकार कर लिया है, अपनी क्रियाओं में इसे शामिल भी कर लिया है। और जैसा होता है, प्रकृति की गतियाँ और प्रयास ऐसे पैमाने पर होते हैं जो मनुष्य के मापदण्ड से अनन्तगुना बड़ा होता है और साधारण मानव चेतना की दृष्टि में नहीं समाता। यह एक आन्तरिक मनोवैज्ञानिक सम्भावना है जो धरा पर उतरी है, धरती के घटना-क्रम का कौतुकमय परिवर्तन नहीं है।

मैं यह इसलिए बताये दे रही हूँ कि कहीं लोग यह मानने को न ललचा उठें कि धरती पर परी-कथाएँ सत्य होने जा रही हैं। अभी उसका समय नहीं आया।

चीज़ें कैसे घटती हैं यह जानने के लिए चाहिये अतुल धैर्य, अति विशाल एवं व्यापक दृष्टि।

जो चमत्कार होते हैं उन्हें शब्दशः चमत्कार इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे उस तरह नहीं घटते जैसे क़िस्से-कहानियों में हुआ करते

हैं। वे चीज़ों को देखने की बहुत गभीर दृष्टि को ही दिखायी देते हैं—अति गभीर, बहु-विस्तीर्ण, अपार दृष्टि को।

भागवत कृपा की क्रिया को पहचानने के लिए पहले उसकी विधियों और उपकरणों का अनुसरण कर सकना आना चाहिये। वस्तुओं के गहनतर सत्य को देखने के लिए आभासों से ही अन्धे न बन जाने की शक्ति होनी चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २७३-७४

प्रकृति की पुरानी पद्धतियाँ और नये तरीक़े

अपनी एक कक्षा में मैंने प्रकृति की, अव्यय सिरजनहारी प्रकृति की, अपार प्रचुरता का ज़िक्र किया था जो सदा नये-नये समवायों के लिए आकारों के पूरे समूह को मिलाती है, फिर अलग करती है, दुबारा गढ़ती है, उन्हें बनाती है, बिगाड़ती है और नष्ट कर देती है। मैंने बताया था कि यह एक बहुत बड़ा कड़ाहा है : वह इन्हें चलाती है और कुछ-न-कुछ निकल आता है। यदि वह ठीक न हो तो उसे उसी में फेंक देती और कोई दूसरी चीज़ उठा लेती है।... उसके लिए एक या दो या सौ रूपों का कुछ महत्त्व नहीं है, वहाँ तो हज़ारों, लाखों रूप हैं और साल? साल तो सैकड़ों, हज़ारों, लाखों—बेहिसाब हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं, अनन्त काल है उसके सामने! स्पष्ट ही 'प्रकृति' को इसमें मज़ा आता है, और उसे कोई उतावली नहीं। यदि तुम उसे कोई काम चटपट कर डालने को कहो तो हमेशा उसका एक ही जवाब होता है : "पर किसलिए ऐसा करूँ? आख़िर क्यों? क्या तुम्हें इसमें मज़ा नहीं आता?"

जिस शाम मैंने तुम्हें ये बातें बतायी थीं उसी शाम 'प्रकृति' के साथ मैंने अपना सर्वतः तादात्म्य किया, उसकी लीला में शामिल हो गयी मैं। तादात्म्य की इस क्रिया को प्रत्युत्तर मिला, 'प्रकृति' और मेरे बीच एक नयी प्रगाढ़ आन्तरिकता पनपी, पास, और अधिक पास आते जाने की एक दीर्घ प्रक्रिया, और इसकी चरम पराकाष्ठा आयी ८ नवम्बर की अनुभूति में।

एकाएक 'प्रकृति' को बोध हुआ। उसने समझ लिया कि जिस नयी 'चेतना' का जन्म हुआ है वह उसे उठा फेंकने पर उतारू नहीं, बल्कि अपनी भुजाओं में भर लेने को आतुर है। उसने समझ लिया कि यह नयी

आध्यात्मिकता जीवन से कन्नी नहीं काटती, उसकी गति के दृढ़ विस्तार के सामने भय से मैदान नहीं छोड़ती, इसके विपरीत, उसके सब पहलुओं को एक साथ लेकर चलना चाहती है। उसकी समझ में आ गया कि अतिमानसिक चेतना उसे घटाने के लिए नहीं, उसे पूर्ण बनाने के लिए उतरी है।

और तब, परम 'सत्' से आदेश आया, "उठ, आँखें खोल, हे 'प्रकृति', सहयोग का आनन्द तेरे सामने है।" और अचानक सारी 'प्रकृति' आनन्द से पुलकित हो उछल पड़ी और बोली, "मुझे स्वीकार है। मैं साथ दूँगी।" और उसके साथ-ही-साथ आयी शान्ति और पूर्ण निस्तब्धता, ताकि देह का यह आधार, 'प्रकृति' के आनन्द की इस प्रबल बाढ़ को, जो मानों कृतज्ञता का अनवरत प्रवाह थी, भंग किये बिना, कुछ खोये बिना ग्रहण कर सके, अपने में समा सके। उसने स्वीकारा, अनन्त काल में दूर तक निहारा कि यह अतिमानसिक चेतना उसे अधिक पूर्ण रूप से संसिद्ध करेगी, उसकी गति को अधिक शक्ति प्रदान करेगी, उसकी लीला में नये आयाम और नयी सम्भावनाएँ जोड़ देगी।

और अचानक ही मैंने सुने धरती के हर कोने से आते हुए वे महागान जो हम कभी-कभी सूक्ष्म-भौतिक जगत् में सुनते हैं। कुछ-कुछ *बीथोवन* की संगीत-रचना के समान थे वे। ऐसी तान जो प्रगति-अभियान के समय ही बजायी जाती है। लगा, मानों प्रकृति और आत्मा के इस नये संगम के आनन्द को, चिर बिछुड़े दो पुराने बन्धुओं के पुनर्मिलन के हर्ष को व्यक्त करने के लिए, एक भी सुर भंग किये बिना पचासों 'ऑर्केस्ट्रा' एक साथ बज उठे हों।

तब फूट पड़े ये शब्द : "ओ 'प्रकृति', 'पार्थिव माता', तूने कहा है कि तू सहयोग देगी और इस सहयोग की श्री-शोभा और महिमा का कोई ओर-छोर नहीं।"

और इस श्री-शोभा से फूटता उल्लास पूर्ण शान्ति में अनुभूत हुआ।

और इस तरह हुआ इस नववर्ष के सन्देश का उद्‌भव।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २७५-७६

भगवान् के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही सच्चा विश्राम है। —*श्रीमाँ*

एक देवता का श्रम

(श्रीअरविन्द की कविता 'ए गॉड्स लेबर' का अनुवाद)

मैंने रजत-शून्य में अपने स्वप्न सजा रक्खे हैं,
एक ओर नीलिमा, दूसरी ओर स्वर्ण-सम्पुट निर्मल।
रक्खा है सम्पुटित उन्हें कर ऊपर बड़े जतन से,
स्वप्न तुम्हारे जो हीरों से जड़े हुए अतिशय उज्ज्वल।

सोचा था, निर्मित कर कोई दिव्य सेतु सुर-धनु का
महाकाश के साथ मही का परिणय कभी रचाऊँगा।
जो सीमा के परे विश्व है, उसकी मनोदशा का
बीज कभी इस नृत्यशील लघु ग्रह के मध्य गिराऊँगा।

किन्तु स्वर्ग था दूर और वह बहुत-बहुत भास्वर था।
वायवीयता बड़ी तुनुक थी, स्पर्श न सह सकती थी।
इधर मृत्ति का मूल क्षीण था, गहराई थोड़ी थी,
अगर उतरती ज्योति अचानक, ठहर नहीं सकती थी।

जो भी लायेगा उतार कर दिव्य लोक को भू पर,
उसे प्रथम भू के कर्दम में स्वयं उतरना होगा।
ढोना होगा गहन भार वसुधा की हीन प्रकृति का,
काँटों से आकीर्ण पन्थ से स्वयं गुज़रना होगा।

स्वयं दमित कर निज विभुत्व को मैं नीचे आया हूँ
अधम भूमि पर, मैं जिसकी धूसर रज-बीज पड़ा हूँ।
अज्ञानी, श्रमनिरत मनुज की दुर्बलता अपना कर
जन्म-मृत्यु, इन दो द्वारों के अन्तर्मध्य खड़ा हूँ।

बहुत दिनों से खोद रहा हूँ, गूढ़ दीर्घ परिखा को
बिना किये चिन्ता कर्दम की, ह्रास-त्रास की, मल की।

बहे सुनहरी नदी खेय में गीत स्वर्ग का गाकर
और बसे उसमें अभंग मधुज्वाला अमर अनल की।

मिले मनुज को ज्योति, सोच यह, मैं जड़ता-रजनी से
लड़ा बहुत! अपने पर उसका अत्याचार सहा है।
किन्तु नरक की घृणा और विद्वेष भ्रान्त मानव का,
जब से दुनिया बनी, यही मेरा उपहार रहा है।

क्योंकि मनुज चाहता, वासना उसकी नित्य सफल हो।
बेचारा अपने ही भीतर के पशु से हारा है।
मन में उसने जिस पिशाच को युग से पाल रक्खा है,
उसे शोक प्रिय है, मनुज का पाप उसे प्यारा है।

यह पिशाच थर-थर करता है दिव की ज्वालाओं से।
जो कुछ है पवित्र, सुखदायी, उसे नहीं जँचता है।
लिप्सा, लौकिक सुख, विलास से और अन्त में दुःख से
वह करता है राज और अपना नाटक रचता है।

चारों ओर अशान्ति, कलह, कोलाहल और तिमिर है।
जिस प्रदीप को मनुज सूर्य कहता है, वह द्वाभा है।
भटके हुए भ्रान्त जीवन पर जो प्रकाश गिरता है,
वह अमरों की महा ज्योति की बस आधी आभा है।

मनुज जला पाता है जो छोटी मशाल आशा की,
उसका प्रभापुञ्ज बुझ जाता, शेष नहीं रहता है।
नर की सारी प्राप्ति सत्य की एक क्षुद्र कणिका है।
वह सराय है, जिसे आदमी तीर्थधाम कहता है।

सत्यों का जो सत्य, आदमी उससे भय खाता है।
प्रस्तुत है वह नहीं चिरन्तन आभा को वरने को।

वह पुकारता मूढ़ देव को और दनुज वेदी पर
मनुज बैठ जाता है दानव की पूजा करने को।

जो था पहले मिला, आज फिर उसे खोजना होगा।
क्योंकि छिन्न-मस्तक प्रतिपक्षी फिर से जी जाते हैं।
संघर्षों पर एक बार, जय पाना नहीं अलम् है।
निष्फल जीवन के समक्ष वे बार-बार आते हैं।

मुझे सहस्रों घाव लगे हैं, लगते ही जाते हैं।
किन्तु दानवों के प्रहार से मैं तो नहीं झुकूँगा।
जब तक परम देव की इच्छा पूर्ण नहीं होती है,
लक्ष्य-सिद्धि के बिना भला मैं पथ में कहाँ रुकूँगा?

मुझे चिढ़ाते हैं यह कह कर दनुज-मनुज, दोनों ही :—
"असम्भाव्य कल्पना तुम्हारी, तुम क्या विजय करोगे?
रँग पाओगे अन्तरिक्ष को किस प्रकार पावक से?
क्रिया नष्ट होगी, असफल हो तुम व्यर्थ ही मरोगे।

"जड़ समुद्र की छाती पर हम परित्यक्त बालक हैं
लौह नियति से बद्ध, कभी इस पर भी ध्यान गया है?
या केवल बकवास मचाने को भू पर आये हो,
स्वर्ग-लोक है सुखी, वहाँ जो कुछ है, दिव्य, नया है?

"तिमिर-क्षेत्र हो भले भूमि, पर यह धरणी अपनी है।
टिम-टिम छोटी शिखा हमारी सुथिर न रह सकती है।
यह कैसे सामना करेगी ज्वलित, दिव्य आभा का?
देव चाहते जो, उसको भू कैसे सह सकती है?

"चलो, चलें, वध करें स्वर्ग के इस प्रलापकारी का।
तभी हमारे हृदय मुक्त दुविधा से हो पायेंगे।

इसके उच्च, कठोर घोष श्रवणों में नहीं पड़ेंगे।
विस्तृत, शुभ्र शान्ति के बन्धन से भी बच जायेंगे।"

मेरे मर्त्य हृदय में पर उद्यत देवता खड़ा है
नियति, भाग्य, प्रारब्ध, भ्रान्तियों, भूलों से लड़ने को,
नामहीन, निर्मल, विराट् के लिए विश्व के पथ पर
पग से रौंद कुलिश कर्दम को चूर-चूर करने को।

"जाओ वहाँ, जहाँ पर कोई अब तक नहीं गया था"
"खोदो, खोदो," ध्वनि कहती है, "आगे सत्य कहीं है।
पहुँचो नीचे उस पत्थर पर जिस पर नींव टिकी है।
दस्तक दो उस दर पर जिसकी कुञ्जी कहीं नहीं है।"

देखा मैंने, असत् वृक्ष का मूल बड़ा गहरा था।
चीज़ों की जड़ से असत्यता लिपटी हुई पड़ी थी।
हरि सोये थे महा सर्प पर जटिल योग-निद्रा में।
भूरी नरसिंहनी भीष्म पहरे पर जगी खड़ी थी।

मन के सतह-लोक पर है जो देव, और जीवन का
जो समुद्र है असन्तृप्त, दोनों को मैंने छोड़ा।
फिर शरीर की अन्य वीथियों में डुबकियाँ लगा कर
चरणों को मैंने रहस्यमय अधोलोक दिशि मोड़ा।

छाना है मैंने प्रचण्ड उर-अन्तर मूक मही का।
पीड़ा, आह, कराह, दर्द की घण्टी वहाँ सुनी है।
देखा है वह स्रोत, जहाँ से दुःख जन्म लेते हैं।
और नरक कैसे बनता है, यह भी बात गुनी है।

मैं हूँ जहाँ, वहाँ ऊपर विषधर फुंकार रहे हैं,
पैशाचिक आवाज़ गुमड़ कर क्षण-क्षण रही उबल है।

पर मैंने तो शून्य चीर उस स्थिति को देख लिया है,
जहाँ प्रथम आभा प्रकटी, पहला विचार जनमा था।
घूम चुका हूँ उस खाई में जो नितान्त निस्तल है।

उच्च, भयावह सोपानों पर मेरे चरण पड़े हैं।
कवच पहन निस्सीम शान्ति का, रहा किन्तु निश्चल मैं।
ले आया आख़िर पावक मैं ईश्वरीय आभा का।
और उसे बो दिया मनुज के अगम, अगाध, अतल में।

तब भी था मैं वही, सदा जो मेरा रूप रहा था।
पर जो थे आवरण, किसी ने उनको फाड़ दिया है।
प्रभु की वाणी सुनी और मैंने उनकी इच्छा को
निज प्रशान्त, विस्तृत ललाट पर सादर वहन किया है।

गहराई जुड़ गयी शिखर से, सेतु हुआ निर्मित है।
अब स्वर्णिम जल का प्रपात नीरव, अजस्र झरता है
उस सुनील पर्वत से जो सुरधनु से सजा हुआ है।
इस तट से उस तट तक जल जगमग जगमग करता है।

दीप्त हो उठा अनल स्वर्ग का, पृथ्वी की छाती में।
अमर सूर्य अब तो जलता है इसी मृत्ति-वेदी पर।
चमत्कार, पड़ गया रन्ध्र जन्मान्तर के बन्धन में।
जिसने देह धरी थी वह आत्मा अखण्ड, अविनश्वर—

चाह रही बनना सत्-चित्-आनन्द-लोक की ज्वाला।
स्वर्णारुण सोपान-मार्ग पर पग नीचे धरते हैं—
दिव के अमृत-पुत्र अनुरञ्जित अपनी ही आभा से।
"उन्मूलित हो गया तिमिर", यह तूर्यनाद करते हैं।

तनिक और है देर, द्वार-पट इस नवीन जीवन के
रचित-खचित होंगे प्रकाश से, चन्द्रमूर्ति-आभा से।

छत होगी स्वर्णाभ और गच होगा मणिकुट्टिम का।
सारा जगत् प्रकाशमान होगा अपरूप विभा से।

अपना स्वप्न छोड़ दूँगा मैं उज्ज्वल रजत-पवन में।
नील-स्वर्ण परिधान पहन कर ज्योति अलौकिक धारे
रूपान्तरित इसी पृथ्वी पर तब मनोज्ञ, मंगलमय
धर कर देह करेंगे विचरण जीवित सत्य तुम्हारे।

अनु. रामधारी सिंह दिनकर —श्रीअरविन्द

एक दिन...

सारी प्रकृति मूक भाषा में उसे ही पुकारती है ताकि वह अपने चरणों से उसके जीवन की दुखती हुई धड़कनों को मुक्त कर सके और मानव की धुँधली आत्मा पर लगी मुहरों को तोड़ सके और वस्तुओं के बन्द हृदय में अपनी ज्वाला धधका दे। एक दिन यहाँ जो कुछ है वह सब उसकी मधुरता का आवास होगा, सभी परस्पर विरोधी बातें उसके सामञ्जस्य को तैयार करेंगी। हमारा ज्ञान उसकी ओर आरोहण करता है। हमारे आवेश उसी ओर टटोलते हैं। हम उसके चमत्कारी आनन्द में निवास करेंगे। उसका आलिंगन हमारे कष्टों को आनन्द में बदल देगा। हमारी आत्मा उसके द्वारा सबके साथ एक आत्मा होगी, उसके अन्दर रूपान्तरित होकर उसी में अनुमोदित होगी। हमारा जीवन उसके पूर्ण प्रत्युत्तर में ऊपर असीम नीरव आनन्द और नीचे दिव्य आलिंगन का चमत्कार पायेगा।

इस गोचर और दृश्य जगत् का गुप्त कारण है निश्चेतन भौतिक द्रव्य में अतिचेतन आत्मा का अन्तर्लयन। धरती की पहेली का संकेत-शब्द है, एक छिपी हुई असीम चेतना और शक्ति का—जड़ दीखने वाली परन्तु भयंकर रूप से चालित संज्ञाहीन प्रकृति में से—क्रमशः विकास। पार्थिव जीवन महान् देव का अपना चुना हुआ आवास है और उनकी चिरकालिक इच्छा है कि उसे अन्धे कारागार में से निकाल कर भव्य भवन और स्वर्ग तक पहुँचाने वाले उच्च मन्दिर में बदल दें।

—श्रीअरविन्द

नवीन जगत् का बीज

१९५९

एकदम से कठोर, अनम्य, संकरी और दमघोंटू निश्चेतना की ठीक तली में मैं एक सर्वशक्तिमान् 'स्प्रिंग' पर जा पहुँची जिसने मुझे उछाल कर एक ऐसी आकारहीन, सीमातीत विशालता में पहुँचा दिया जो नवीन जगत् के बीजों से स्पन्दित हो रही थी।

'एकदम से कठोर और अनम्य, निश्चेतना की ठीक तली में...' क्योंकि सामान्यतः निश्चेतना शब्द के उच्चारण-मात्र से ठीक ऐसा लगता है मानों कोई अव्यवस्थित, जड़, आकारहीन, नीरस और मनहूस चीज़ हो (पहले पहल जब मैं निश्चेतना के क्षेत्रों में उतरी थी तब सबसे पहले इन्हीं चीज़ों से मेरी मुठभेड़ हुई थी)। यह थी वस्तुतः निश्चेतना... वह कठोर, अनम्य, जमी हुई निश्चेतना थी, मानों हर चीज़ का प्रतिरोध करने के लिए एकदम उतारू थी : उस पर कोई प्रयास सफल नहीं होता, कोई चीज़ उसका स्पर्श नहीं कर सकती, उसे भेद नहीं सकती। इसीलिए मैंने यह लिखा, '... एकदम से कठोर, अनम्य और संकरी' (कोई चीज़ जो तुम्हें दबाती हो, दबाती हो, दबाती हो) 'और दमघोंटू'—हाँ दमघोंटू शब्द एकदम सही है।

'... मैं एक सर्वशक्तिमान् 'स्प्रिंग' पर जा पहुँची जिसने मुझे उछाल कर एक आकारहीन, सीमातीत विशालता और समस्त सर्जन के जनक तक पहुँचा दिया।' हाँ... मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि वह सामान्य सृष्टि, आदिकालिन सृष्टि नहीं थी, बल्कि थी अतिमानसिक सृष्टि, क्योंकि उसमें मुझे 'परम' में वापिस लौटने—जो सब कुछ का उद्गम है—का अनुभव नहीं हुआ। मुझे पूरी तरह से यह अनुभव हुआ मानों मैं अतिमानसिक सृष्टि के उद्गम में उछाल दी गयी होऊँ—वह ऐसी वस्तु थी (इसे कैसे अभिव्यक्त

(बाद में श्रीमाँ ने १ जनवरी १९५९ के सन्देश में थोड़ा परिवर्तन कर दिया : 'मैं एक सर्वशक्तिमान् 'स्प्रिंग' पर जा पहुँची जिसने मुझे उछाल कर एक आकारहीन, सीमातीत विशालता में पहुँचा दिया जहाँ नवीन जगत् के बीज बोये जा चुके थे' के स्थान पर उन्होंने 'एक ऐसी आकारहीन, सीमातीत विशालता में पहुँचा दिया जो नवीन जगत् के बीज़ों से स्पन्दित हो रही थी' कर दिया।)

किया जाये?) जो 'अतिमानसिक सृष्टि' के सुस्पष्ट लक्ष्य के साथ 'परम' में दृष्टिगोचर हो चुकी थी। यही थी मेरी अनुभूति।

मेरी अनुभूति एकदम निर्भ्रान्त थी, क्योंकि उस लोक में शक्ति की, ऊष्मा की, स्वर्ण की इतनी भरपूर भावना थी... वह कोई तरल पदार्थ नहीं था, वहाँ मानों स्वर्णिम चूर्ण था। और वहाँ की प्रत्येक वस्तु (उन्हें कण या खण्ड नहीं कहा जा सकता, बिन्दु तक नहीं कहा जा सकता, हाँ, अगर तुम गणितीय भाषा में समझना चाहो तो कह सकते हैं कि वे ऐसे बिन्दु थे जो जगह नहीं घेरते!) वह जीवन्त स्वर्ण की भाँति था, ऊष्मापूर्ण स्वर्ण का चूर्ण। मैं यह नहीं कह सकती कि वह चमकीला था, यह भी नहीं कह सकती कि धुँधला था, न ही वह प्रकाश से निर्मित था: वहाँ थे स्वर्ण के असंख्य बिन्दु, इसके सिवाय और कुछ न था। वे बिन्दु मेरी आँखों का, मेरे चेहरे का स्पर्श कर रहे थे... और उनमें कितनी शक्ति और कितनी ऊष्मा अन्तर्निहित थीं, जन्मजात थीं—वह और कुछ नहीं, बस भव्यता थी! और साथ ही, मेरे अन्दर प्रचुरता की, सर्वशक्तिमत्ता की 'शान्ति' की भावना भी विराजमान थी... वह कितनी समृद्धिशाली भावना थी, वह सम्पूर्ण थी। वह शीर्षस्थ, चरम गति थी, व्यक्ति जितनी गति की कल्पना कर सकता है उससे अनन्तगुना तेज़ गति थी वह, और साथ ही वह भावना सम्पूर्ण रूप से शान्तिमय थी, उसमें पूर्ण अचञ्चलता थी।...

८ नवम्बर १९५८ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

वह 'स्प्रिंग' क्या है माँ?

'स्प्रिंग'? इसका ठीक-ठीक यह अर्थ है: निश्चेतना की गभीरतम गहराइयों में एक परम 'स्प्रिंग' है जो हमें उछाल कर 'परम' का स्पर्श करा देती है। यह मानों 'परम' ही हमें 'परम' का स्पर्श कराते हैं: यह सर्वशक्तिशालिनी 'स्प्रिंग' है। जब तुम निश्चेतना की ठीक तली में पहुँच जाते हो, तुम 'परम' को छू लेते हो।

तो यह सबसे छोटा पथ है!

नहीं, सबसे छोटा पथ नहीं है! स्वयं मेरे लिए निश्चेतना की तली को छूना बहुत कठिन कार्य था, औरों को तो अनन्तकाल लग जायेगा।

श्रीअरविन्द ने 'एक देवता का श्रम' (A God's Labour) में जो लिखा है यह कुछ-कुछ वैसा ही है।

जी, क्या निश्चेतना की ठीक तली के 'परम पुरुष' ने आपको ऊपर के 'परम' की ओर उछाल दिया?

हाँ। क्योंकि निश्चेतना की ठीक तली में 'परम' का वास है। यह वही समान विचार है कि उच्चतम ऊँचाई गभीरतम गहराई का स्पर्श करती है। विश्व गोल घेरे की भाँति है—उसे ऐसे सर्प की भाँति चित्रित किया गया है जो कुण्डली मार कर अपनी ही पूँछ काटता है, उसका सिर उसकी पूँछ का स्पर्श करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि चरम ऊँचाई सबसे अधिक जड़-भौतिक का सीधा स्पर्श करती है, कोई मध्यस्थ नहीं होता। मैं यह बात कई बार कह चुकी हूँ।...

निश्चेतना का यह अन्तर्दर्शन... *(श्रीमाँ पल-भर के लिए एकटक देखती रहती हैं)* वह मानसिक निश्चेतना थी। क्योंकि आरम्भ-बिन्दु मानसिक था। वह विशेष निश्चेतना थी—अनम्य, कठोर, प्रतिरोधी—उसमें वह सब था जिसे मन हमारी चेतना में ले आया है। लेकिन यह निश्चेतना उससे कहीं, कहीं अधिक बुरी थी, यह शुद्ध जड़-भौतिक निश्चेतना से कहीं, कहीं ज़्यादा बदतर थी। यह थी 'मानसिक-भावापन्न' निश्चेतना। यह सारी अनम्यता, यह कठोरता, यह संकुचितता, यह जड़ता—भारी 'जड़ता'—यह सब कुछ सृष्टि में मन की उपस्थिति से आता है। जब मन का आविर्भाव नहीं हुआ था, तब निश्चेतना ऐसी नहीं थी! वह आकारहीन थी और उसमें आकारहीनता की नमनीयता थी—मन के साथ-साथ नमनीयता चली गयी।

निश्चेतना में मन की क्रिया का यह भयंकर बिम्ब है।

इसने निश्चेतना को आक्रामक बना दिया—वह पहले ऐसी नहीं थी। आक्रामक, प्रतिरोधी, 'दुराग्रही'। ऐसा पहले नहीं था।

हाँ, तो यही बात है। यह 'मौलिक' निश्चेतना नहीं थी। यह थी मानसिक-भावापन्न निश्चेतना। इसके साथ वह सब था जिसे मन ने विरोध के रूप में खड़ा कर दिया—वह प्रतिरोध, वह कठोरता और वह अनम्यता।...

यह वह अनुभूति नहीं थी जो मुझे एक बार पहले, 'मौलिक' निश्चेतना की हुई थी। इस बार निश्चेतना की जो अनुभूति मुझे हुई वह सृष्टि में

मन का प्रभाव भुगत चुकी थी... यह पहले की अपेक्षा अब कहीं ज़्यादा बाधक बन गयी है। पहले तो उसके अन्दर प्रतिरोध करने की भी शक्ति नहीं थी। वह सचमुच अचेतन थी। अब यह ऐसी संघटित 'निश्चेतना' है जो बदलने से साफ़ इन्कार कर रही है!

यह मेरे लिए एकदम से नया अनुभव था। तो हम इस अवस्था में हैं।

और यह सर्वशक्तिशाली 'स्प्रिंग' उसका यथार्थ रूपक है जो आज घटित हो रहा है—जिसे घटित होना चाहिये, और जो भविष्य में घटित होगा —हर एक के लिए यह सच है: अचानक तुम विशालता में ऊपर उछाल दिये जाओगे।

११ नवम्बर १९५८ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

सत्य का आगमन

१९६५

सत्य के आगमन को नमस्कार

मधुर माँ, आपने इस नववर्ष के अपने सन्देश में लिखा है, "सत्य के आगमन को नमस्कार।" तो क्या वह बहुत नज़दीक है? हमें १९६५ में क्या करना चाहिये ताकि हम उसे पहचानने और उसका स्वागत करने के लिए तैयार हो सकें?

करने-लायक सबसे अच्छी चीज़ यह है कि अपने अन्दर अपनी सभी गतिविधियों के मूल को पहचानो—वे जो सत्य के प्रकाश से आती हैं और वे जो पुरानी जड़ता और मिथ्यात्व से आती हैं—ताकि तुम पहली को स्वीकार और दूसरी को अस्वीकार या उसका त्याग कर सको।

अभ्यास के साथ तुम इनमें अधिकाधिक स्पष्टता के साथ फ़र्क करने लगते हो, किन्तु यह सामान्य नियम बना सकते हो कि वह सब जो असामञ्जस्य, अव्यवस्था और जड़ता की ओर प्रवृत्त होता है वह मिथ्यात्व से आता है और जो कुछ ऐक्य, सामञ्जस्य, व्यवस्था और चेतना की ओर प्रवृत्त होता है वह 'सत्य' से आता है।

यह केवल एक इशारा है कि इस मार्ग पर पहला क़दम कैसे उठाया जाये, उससे ज़्यादा कुछ नहीं। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ३५२-५३

सत्य या रसातल

१९६७

मनुष्यो, देशो और महाद्वीपो!
चुनाव अनिवार्य है :
सत्य या फिर रसातल।

१९६७ के नववर्ष के सन्देश में आप कहती हैं कि चुनाव सत्य और रसातल के बीच है। रसातल मुँह बाये सामने दीखता है, फिर भी यह विश्वास है कि इसे मार्ग से हटा लिया जायेगा।

विश्वास उचित ही है।

सन्देश केवल उन्हीं के लिए है जो अभी तक सोये हुए हैं और अपनी नींद से काफ़ी सन्तुष्ट हैं।

आपके नववर्ष के सन्देश में "रसातल" का क्या अर्थ है, या दूसरे शब्दों में, साधक को किस चीज़ से डरना चाहिये?

ठीक इस समय बहुत बड़ा तनाव है। सबने ऐसी स्थिति ले ली है मानों युद्ध आरम्भ करने वाले हों। वह अन्धा आवेग है जिसे मनुष्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में ले आते हैं।

इस सबके मूल में एक भय है, व्यापक अविश्वास है, और वह है जिन्हें वे अपने "हित" कहते हैं (धन, व्यापार)—इन तीन चीज़ों का संयोजन है। जब मानवता के इन तीन निम्नतम आवेगों को सक्रिय किया जाता है, उन्हीं को मैं "रसातल" कहती हूँ।

जब व्यक्ति ने भगवान् को पाने के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने का निश्चय कर लिया हो, और अगर वह निष्कपट हो, यानी अगर संकल्प निष्कपट हो और उसका निष्कपटता के साथ पालन किया जाये तो बिलकुल किसी चीज़ से भयभीत न होना चाहिये, क्योंकि उसके साथ जो हो रहा है या होगा वह सब उसे इस सिद्धि तक छोटे-से-छोटे मार्ग द्वारा ले जायेगा।

यह भागवत कृपा का उत्तर है। लोग यह मानते हैं कि भागवत कृपा का अर्थ है, तुम्हारे सारे जीवन में सब कुछ सरल और सहज बना दिया जाये। यह सच नहीं है।

भागवत कृपा तुम्हारी अभीप्सा की चरितार्थता के लिए कार्य करती है और सबसे अधिक तत्पर, सबसे तेज़ चरितार्थता पाने के लिए सभी चीज़ों की व्यवस्था की जाती है—अतः डरने की कोई बात नहीं।

भय कपट से आता है। अगर तुम आरामदेह जीवन, अनुकूल परिस्थितियाँ इत्यादि चाहो, तो तुम शर्तों और सीमाओं को लगाते हो, और तब तुम भयभीत हो सकते हो।

लेकिन इसका साधना के साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १५, पृ. १९९-२००

सत्य के रक्षक

यह बहुत ही मज़ेदार है... और इसका कारण है नववर्ष का यह "सन्देश"—"सत्य से चिपके रहो"—(सब जगह हर एक, इसी की चर्चा में लगा है, इसने सबको अच्छा धक्का दिया है; यहाँ तक कि सरकारी क्षेत्रों में भी—सर्वत्र), इस सन्देश की वजह से प्रत्येक यह घोषणा कर रहा है कि वह "सत्य का रक्षक है।" वे मुझसे प्रश्न पूछ रहे हैं, और प्रत्येक इस बात पर आश्चर्य करता है कि वह जिसे सत्य समझता है वह इस धरती पर प्रतिष्ठित क्यों नहीं हुआ है। इसलिए 'परम सत्य' के विरोध में तथाकथित सत्य की सभी धारणाओं के सम्मुख मैं युद्ध के लिए बाध्य हूँ!...

दिन पर दिन यही हो रहा है, यह चीज़ बढ़ती ही जा रही है। हर एक "सत्य का रक्षक" बना खड़ा है। कोई कहता है कि अमुक भोजन सही है, कोई धन के व्यय का सच्चा तरीक़ा बताना चाहता है तो कोई दूसरा व्यापार का, तो तीसरा सच्चे और सही सम्बन्धों की दिशा दिखलाने का दावा करता है! हर एक अपने काठ के घोड़े पर सवार सरपट दौड़ने की चाह में लगा है!

मज़ेदार बात यह है कि मनुष्य ऐसा प्राणी है कि अपनी राय को इतना ऊँचा समझता है कि किसी और की राय को इतना महत्त्व नहीं देता। आज तक किसी ने मुझसे यह आकर नहीं कहा कि "हो सकता है कि मेरी रायें सच न हों?"—किसी एक ने भी नहीं कहा! "हो सकता है कि मेरे देखने या अनुभव करने का तरीक़ा सही न हो?" नहीं, किसी ने भी यह नहीं कहा। सब अपने-आपको सत्य का दावेदार मानते हैं। वे सभी

पूर्ण 'सत्य' में निवास करते हैं!!

यह बहुत मज़ेदार है।

सत्य के रक्षक बहुधा सत्य के शत्रुओं से बदतर होते हैं।

(माँ समर्थन में सिर हिलाती हैं) लेकिन मैं इस बारे में कुछ नहीं कह सकती क्योंकि मैं ही इसकी उत्तरदायी हूँ, मैंने ही उनसे कहा, *"सत्य से चिपके रहो।"*

हाँ, वे सभी समान भूल करते हैं। वे सत्य को सद्‌गुण मान लेते हैं, जो पुराना विचार है। वे यही समान नैतिक ग़लती कर बैठते हैं।

और सबसे बढ़ कर यह कि वे चाहते हैं कि सत्य को सुस्पष्ट और अच्छी तरह परिभाषित, बहुत ही कम शब्दों में अभिव्यक्त किया जाये, ताकि वे कह सकें, "यही सत्य है।" धर्मों का वही पुराना अनर्थकारी वाक्य: "यही सत्य है"—इसलिए बाक़ी सब मिथ्यात्व है!

कितनी बार... कितनी ही बार श्रीअरविन्द ने (और स्वयं मैंने भी) कहा है, *"जब कोई चीज़ सच है तो तुम निश्चित हो सकते हो कि उसका उलटा भी सच है। जब तुम इस बात को समझ लोगे तब तुम समझना शुरू करोगे।"*

आज सवेरे से श्रीअरविन्द का एक उद्धरण बारम्बार मेरे मस्तिष्क में गूँज रहा है। उनका यह उद्धरण *'माता'* पुस्तक से है, "भागवत 'कृपा' केवल 'सत्य' में ही क्रिया कर सकती है"—और मुझे यह बात भूलनी नहीं चाहिये! *(माँ हँसती हैं)* श्रीअरविन्द का एक और उद्धरण है जिसमें वे कहते हैं, "भागवत 'कृपा' उत्तर देगी, लेकिन यह मत सोचो कि वह

बाद में, 'सत्य' पर पूछे गये प्रश्नों के एक उत्तर में श्रीमाँ ने कहा था, " 'सत्य' कोई धर्मसिद्धान्त नहीं है जिसे एक बार सीख लिया जाये तो बस नियम के रूप में थोप दिया जाये। सत्य परम 'पुरुष' की तरह अनन्त है और सभी सच्चे और सतर्क मनुष्यों के सम्मुख वह स्वयं को प्रतिपल अभिव्यक्त करता रहता है।"

"अगर सत्य स्वयं को सबके सम्मुख इस प्रकार अभिव्यक्त करे कि सभी मनुष्य उसे देख सकें, समझ सकें तो वे अपने घोर अज्ञान और अपनी मिथ्या व्याख्या को देख कर आतंकित हो उठेंगे।"

'मिथ्यात्व' का समर्थन करेगी।... " प्रशंसनीय वाक्य है यह। बस, वे लोग नहीं जानते : वे समझते हैं कि वे ही सत्य के मालिक हैं—मिथ्यात्व में तो दूसरे डूबे हुए हैं!... यहाँ तक कि बुद्धिमान् लोग भी, ऐसे भी जिनका मस्तिष्क प्रखर है, समझ नहीं पाते और इस जाल में फँस जाते हैं।

२२ मार्च १९६७ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

अतिमानसिक चेतना

१९६९

कथनी नहीं—करनी।

धीमे-धीमे, रात को उसने पदार्पण किया और आज सवेरे जब मैं जगी, तो वह उपस्थित थी—वह थी स्वर्णिम 'उषा', वातावरण कितना वायवीय था। मेरे शरीर ने अनुभव किया, कहा, "ओह, यह सचमुच... सचमुच नूतन है।" एक प्रकाश, स्वर्णिम 'प्रकाश' और... हितैषिता, सद्भावना। निश्चिति के भाव के साथ सद्भावना—सामञ्जस्यपूर्ण निश्चिति।

वह नूतन थी।

तो यह है सारी बात।

जब मैं लोगों को "शुभ नववर्ष" कहती हूँ तब मैं उन्हें यही हितैषिता प्रदान करती हूँ। और आज सुबह, मैंने अपना समय इसी में व्यतीत किया, सहज रूप से मैं कहती रही, "शुभ नववर्ष, शुभ नववर्ष..." इसी तरह, लगातार...

*

वह वर्ष का आरम्भ था। मानों किसी देवता के स्तर से किसी ने आकर कहा, "शुभ नववर्ष," इस वाक्य के अन्दर वह पूरी शक्ति थी जो इसे सुखद नववर्ष बनाने वाली थी। वह ऐसा था।...

वह ज्योतिर्मय था, मुस्कान से भरा हुआ था, और अपनी शक्ति के कारण सद्भावना और हितैषिता का सागर था : लेकिन सामान्यतः मनुष्यों में जो सद्भावना होती है उसमें दुर्बलता का पुट होता है, इस अर्थ में कि वह युद्ध पसन्द नहीं करती, संघर्ष नहीं चाहती—लेकिन यह उस तरह की सद्भावना बिलकुल न थी! ऐसी सद्भावना थी जो स्वयं को आरोपित

करती है *(माँ अपनी दोनों मुट्ठियाँ कुर्सी के हत्थे पर दृढ़ता से रख देती हैं)।*

वह मुझे बड़ी रुचिकर लगी क्योंकि यह एकदम से नयी चीज़ थी। और थी कितनी ठोस! इतनी ठोस *(माँ अपनी कुर्सी के हत्थे को छूकर दिखाती हैं)*, हमारी भौतिक चेतना जिस भाँति "दूसरी" चीज़ों को साकार रूप में देखती है उतनी साकार थी वह सद्भावना। इसका यह अर्थ हुआ कि वह किसी आन्तरिक सत्ता, चैत्य सत्ता से नहीं आयी थी: वह सीधी शरीर में अवतरित हुई...

वह थी मानों ऐसी मानवरूपधारी सद्भावना जिसमें दुर्बलताओं और परछाइयों का कोई लक्षण नहीं था—वह पूर्ण प्रकाश और मुस्कान थी, और ... साथ में उसके थी मधुरता।

१,४ जनवरी १९६९ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक मुहूर्त के लिए प्रार्थना

हाँ, तो नया वर्ष आ रहा है...।

क्या आप नये वर्ष के लिए कुछ अनुभव करती हैं?

वस्तुओं ने एक उग्र रूप ले लिया है। ऐसा लगता है मानों सारा वातावरण ऊपर की ओर, वैभव की ओर उठ रहा हो... उसके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता, और साथ ही यह भाव भी है कि किसी भी क्षण... मृत्यु हो जाये—"मृत्यु" नहीं, शरीर विघटित हो सकता है। दोनों एक साथ मिल कर एक चेतना बनाते हैं *(माताजी सिर हिलाती हैं)*... सभी पुरानी चीज़ें, कमज़ोर, बचकानी, अचेतन मालूम होती हैं—और यहाँ अन्दर... यह अति महान् और अद्भुत है।

तो शरीर की, देह की एक ही प्रार्थना है—और हमेशा वही एक:

मुझे इस योग्य बनाओ कि मैं 'तुम्हें' जान सकूँ।
मुझे 'अपनी' सेवा के योग्य बनाओ।
मुझे 'तुम' बनने के योग्य बनाओ।

मैं अपने अन्दर एक बढ़ती हुई शक्ति का अनुभव करती हूँ... लेकिन वह नयी तरह की है... मौन और मनन में।

कुछ भी असम्भव नहीं है *(माताजी अपने दोनों हाथ ऊपर की ओर खोलती हैं)*।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३५०

माँ, आप हर साल जनवरी की पहली तारीख़ को एक सन्देश देती हैं। वह ठीक क्या बताता है?

हाँ, हर साल...। युद्ध के समय अद्‌भुत बात थी, सन्देश आने वाली चीज़ की भविष्यवाणी के जैसा होता था। अब युद्ध नहीं हो रहा और भविष्यवाणी की ज़रूरत नहीं रही! फिर भी वह हमेशा उस प्रगति का संकेत होता है जो हमें करनी है। तुमको वह प्रार्थना[१] कल सुबह मिल जायेगी। लेकिन मैं तुमको उस पर बहुत गम्भीरता से विचार करने की सलाह दूँगी। क्योंकि सचमुच उसे बहुत महत्त्वपूर्ण मान कर कहा गया है। अब हम लोग प्रायः सार्वजनिक रुचि की वस्तु बन रहे हैं, इस अर्थ में कि यहाँ बहुत से दर्शनार्थी आते हैं और हम यहाँ पर जो कर रहे हैं उसमें बहुत-से लोग दिलचस्पी लेते हैं, और उनको सब जगह घुमाया जाता है और उनको यह बताया जाता है कि हमने यहाँ क्या-क्या तथाकथित किया है, और क्या करने वाले हैं इत्यादि। और यह कहने की सचमुच बड़ी आवश्यकता थी : "कृपया जो हम कर रहे हैं उसके बारे में इतना मत बोलिये, उसे कीजिये।" बस, इतना ही।

बोलने की अपेक्षा करना हमेशा ज़्यादा अच्छा है, और वह भी अति संक्षिप्त रूप से।

एक और अर्थ भी है, ज़्यादा गहरा। लेकिन उसके बारे में मैं तुम्हें कभी और बताऊँगी।

तो बस, पुनर्दर्शनाय, मेरे बच्चो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ४५७-५८

[१] १९५४ की नववर्ष-प्रार्थना :

"मेरे स्वामी, इस साल के लिए यही है सबके लिए आपका सन्देश : 'किसी चीज़ के बारे में डींग मत मारो। ऐसा करो कि तुम्हारे कर्म ही तुम्हारे लिए बोलें।' "

अपनी चेतना का विस्तार करो

१९७३

जब तुम एक ही साथ समस्त संसार के बारे में सचेतन होते हो, तब तुम भगवान् के बारे में सचेतन हो सकते हो।

मेरा यह आशय नहीं है कि संसार के बारे में सचेतनता व्यक्ति को स्वतः ही भगवान् के बारे में सचेतन बना देगी, बल्कि यह है कि जब तुम्हारी सचेतनता इतने पर्याप्त रूप में विस्तृत हो जायेगी कि तुम देख सकोगे और समस्त संसार के बारे में सचेतन हो सकोगे, तब तुम समर्थ होओगे।...

मैं इसे शब्दों में कैसे रखूँ?... मैं कोई विशेष निर्देशन नहीं देना चाहती। मैं चाहती हूँ कि हर एक अपनी क्षमता के अनुसार समझे—समझ रहे हो? मेरे कहने का आशय समझ रहे हो न तुम?

जी, जी, माँ!

सतही चेतनावाला व्यक्ति इसे दूसरी तरह समझेगा, लेकिन जो गभीरतर चेतना में पैठा हुआ है वह इसका सच्चा अर्थ समझ लेगा।

१३ सितम्बर १९७२ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

नववर्ष का संगीत

(सुनील द्वारा रचित नववर्ष का संगीत सुनने के बाद)

तुम्हें पसन्द आया?

जी, बहुत सुन्दर है यह, बहुत ही शक्तिशाली।

है न! और इसने एक वातावरण बना दिया है।

सामान्यतः, पहले मैं संगीत बजा कर सुनील को सुनाती हूँ, उसके बाद वह उससे प्रेरणा प्राप्त कर स्वयं संगीत की रचना करता है, लेकिन इस बार मैंने कुछ नहीं बजाया; इसलिए उसने मेरी बजायी कुछ पुरानी संगीत-रचनाओं को लेकर, उनके सम्पर्क में आकर, यह रचना प्रस्तुत की।

एक अमरीकी संगीतकार यहाँ आया हुआ है, मैंने उसे सुनील के पास भेज दिया (वह पिआनोवादक है)। उसने मुझे बतलाया कि अमरीका में उसने सुनील का कुछ संगीत सुना था, पहले-पहल लोग उसके संगीत को सुन, कुछ भौचक्के-से रह जाते हैं, लेकिन फिर कई बार सुनने के बाद वे बहुत उत्साह से भर जाते हैं।

जहाँ तक मेरी बात है, मुझे लगता है कि वह संगीत एक वातावरण पैदा करता है : वह एक वातावरण को नीचे उतार लाता है।

और उसमें प्रयुक्त मानव-स्वर बहुत सुखद हैं, संगीत के साथ स्वरों का सुन्दर तालमेल है।

२८ दिसम्बर १९६८ *एक शिष्य के साथ श्रीमाँ के वार्तालाप से*

परिवर्तन की चाबी

श्रीमाँ कहती हैं कि हर व्यक्ति और हर वस्तु के हृदय में भगवान् विराजमान हैं और जब तुम अन्तरस्थ प्रभु के साथ एक हो जाओ तो तुम हर चीज़ के साथ उसकी गहराई में एक हो जाते हो। "अहंकार को चटका दो और भगवान् को खोजो, उन्हीं के साथ एक हो जाओ। तुम भगवान् के साथ एक हुए बिना बाहर से आने वाले सभी प्रकार के झूठे प्रलोभनों, विरोधी सुझावों, भरमाने वाले कुतर्कों, अशुभ प्रेरणाओं के शिकार हो जाते हो।"

मानवजाति सब तरह की समस्याओं का शिकार है। श्रीमाँ कहती हैं, "सरकारों के बाद सरकारें आती हैं, शासनों के बाद शासन आते हैं, शताब्दियों के बाद शताब्दियाँ आती रही हैं परन्तु मनुष्य का दुःख-दर्द जैसा-का-तैसा बना रहता है, तो इसका हल क्या है? स्पष्ट है कि जब तक मनुष्य मनुष्य रहेगा, मानसिक की जगह अतिमानसिक प्राणी न बनेगा, अतिमानसिक या दिव्य चेतना को न पा लेगा, तब तक कोई स्थायी समाधान न हो सकेगा।

"जीवन में हमें उच्चतर आध्यात्मिक विधान, जो ऊपर है, तथा मनुष्य के बनाये हुए उन नैतिक और सामाजिक विधानों में भेद करना सीखना होगा जो सापेक्ष और क्षणभंगुर होते हैं। लेकिन हमें सामान्य मानव क़ानूनों को छोड़ने से पहले मज़बूती से अपने पाँव आध्यात्मिक या दिव्य विधान पर जमा लेने होंगे, नहीं तो यह मुसीबत को बुलाना होगा।"

निम्नतर मानव और उच्चतर भागवत विधानों की तरह निम्नतर मानव न्याय और उच्चतर भागवत न्याय भी होता है। निम्नतर न्याय आँख के बदले आँख और दाँत के बदले दाँत कहता है जब कि उच्चतर न्याय का कहना है, "केवल भागवत कृपा में ही वह शक्ति है जो हस्तक्षेप करके वैश्व न्याय के मार्ग को बदल दे। अवतार का महान् कार्य है, धरती पर भागवत कृपा को अभिव्यक्त करना।"

—श्रीमाँ

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

जनवरी

१. मुझे पकड़ने के लिए तुम्हें कहीं दूर न जाना होगा क्योंकि मैं पहले से ही तुम्हारे हृदय में मौजूद हूँ और जैसे ही तुम्हारी आँखें खुलेंगी कि तुम मुझे वहाँ देख पाओगे।

२. तुम्हें जो काम करना हो उसे हमेशा ख़ुशी से करो।
आनन्द से किया गया काम, अच्छी तरह किया गया काम होता है।

३. मैं सदा तुम्हें अपनी शान्ति में लपेटे रहती हूँ : तुम्हें उसे बनाये रखना सीखना चाहिये। मैं सदा तुम्हारे हृदय में रहती हूँ : तुम्हें मेरी उपस्थिति के बारे में सचेतन होना चाहिये, उस शक्ति को ग्रहण करना और उसका उपयोग करना चाहिये जिसे मैं तुम्हारे अन्दर उँडेल रही हूँ ताकि तुम सभी कठिनाइयों पर विजय पाने के योग्य बन जाओ।

४. जब तुम यह समझ जाओगे कि विद्रोह करना सबसे अधिक मूर्खतापूर्ण और व्यर्थ चीज़ है और जब तुम विद्रोह करने की इस बुरी आदत को छोड़ दोगे तब तुम देखोगे कि तुम्हारे दुःख-दर्द भी चले जायेंगे और उनके स्थान पर आयेगा अपरिवर्तित सुख।

५. मुझे अच्छी तरह मालूम है कि तुम्हें क्या चाहिये—वह है मेरे प्रेम और मेरे संरक्षण से घिरे रहना। सचमुच मेरा प्रेम हमेशा तुम्हारे साथ है, तुम्हारे चारों ओर है, परन्तु तुम्हें अपनी ओर से, स्वयं को उसकी ओर खोलना चाहिये, उसे तुम्हें अपने-आपको लपेट लेने और सहायता करने देना चाहिये।

६. यह न भूलो कि मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ और केवल वही करो जो तुम लज्जित हुए बिना मेरे सामने कर सकते हो। मेरा मतलब यह है कि ऐसी कोई चीज़ कभी न करो जिसे तुम मेरी भौतिक उपस्थिति में करने का साहस न करोगे, क्योंकि मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

७. प्रश्न : पता नहीं, मैं अपनी सारी हँसी-ख़ुशी और शान्ति क्यों खो बैठा हूँ। पता नहीं वह मेरे हृदय में कब लौट कर आयेगी। हे मधुर माँ, मैं क्या करूँ?

उत्तर : जब किसी का ध्यान अपनी ओर लगा रहता है तो वह कभी सुखी नहीं रहता। जब कोई हर गुज़रते हुए आवेग को अपने ऊपर शासन करने देता है तो वह कभी शान्त नहीं रहता।

८. यह बिना कारण का दुःख काम करते समय भी आ सकता है, परन्तु बिना काम के तो अवस्था और भी ख़राब होगी। काम में ही तुम सन्तुलन और आनन्द पा सकते हो। तुम्हारी सहायता करने और तुम्हें सहारा देने के लिए मैं हमेशा साथ रहती हूँ।

९. तुम्हें खुलना इसलिए कठिन लगता है क्योंकि तुमने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि अपनी इच्छा को नहीं, मेरी इच्छा को अपने जीवन पर शासन करने दोगे। जैसे ही तुम इसकी आवश्यकता समझ जाओगे, हर चीज़ ज़्यादा आसान हो जायेगी और अन्ततः तुम उस शान्ति को पाने-योग्य हो जाओगे जिसकी तुम्हें इतनी अधिक ज़रूरत है।

१०. मैं तुम्हारी मदद करने और तुम्हारी रक्षा करने के लिए हमेशा तुम्हारे साथ हूँ। अपने ऊपर व्यर्थ की कल्पनाओं का प्रभुत्व न होने दो। तुम्हारे हृदय की गहराइयों में शान्ति मौजूद है। वहाँ एकाग्र होओ और तुम उसे पा लोगे।

११. मैं हमेशा तुम्हें अपने हृदय में लिये रहती हूँ, लेकिन तुम ही वहाँ से भाग जाओ तो मैं क्या करूँ? अगर तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारी सहायता कर सकूँ तो तुम्हें मेरी भुजाओं में चुपचाप स्थिर रहना चाहिये।

१२. उस दिन मैं कितनी ख़ुश होऊँगी जब तुम सदा, सभी परिस्थितियों में बलवान् और प्रसन्न रहोगे। शान्ति तुम्हारे ऊपर है, उसे अपने अन्दर प्रवेश करने दो और शान्ति में तुम प्रकाश पाओगे और प्रकाश तुम्हारे लिए ज्ञान लायेगा।

१३. हर बार जब तुम्हें बेचैनी का अनुभव हो तो तुम्हें बाहर आवाज़ दिये बिना, साथ ही मेरे बारे में सोचते हुए, अपने अन्दर बोलते हुए दोहराना चाहिये : "शान्ति, शान्ति, हे मेरे हृदय!" तुम इसे लगातार कहो और परिणाम से तुम्हें ख़ुशी होगी।

१४. इस अभीप्सा को बनाये रखो कि तुम्हारी विजय निश्चित होगी। एक

दिन तुम मुझे ऐसे प्रेम के साथ प्यार करोगे जो तुम्हें बल और आनन्द से भर देता है।

१५. प्रश्न : हे माँ, मुझे अपने लाथ ले लो, मैं तुम्हें हमेशा के लिए अपने हृदय में बिठाऊँगा। मैं तुम्हें खो न सकूँगा।

उत्तर : मुझे खोने का सवाल ही नहीं है। हम अपने अन्दर एक शाश्वत चेतना लिये रहते हैं और हमें इसी के बारे में अभिज्ञ होना चाहिये।

१६. मैं तुम्हारे उस हर विचार और उस हर अभीप्सा में हूँ जिसे तुम मेरी ओर मोड़ते हो। अगर तुम हमेशा मेरी चेतना में उपस्थित न होते तो तुम कभी मेरे बारे में सोच ही न पाते। इसलिए तुम मेरी उपस्थिति के बारे में निश्चित हो सकते हो।

१७. तुम्हारे अन्दर भय बिलकुल न होना चाहिये, विजय उसी की होती है जो भयहीन है; तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करने और तुम्हारी रक्षा करने के लिए मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।

१८. निराशावादी होना कभी उपयोगी नहीं रहा है। वह अपनी ओर ठीक उसी चीज़ को खींचता है जिससे वह डरता है। इसके विपरीत, तुम्हें सभी निराशा-भरे विचारों को खदेड़ देना चाहिये और स्वयं को केवल वही सोचने के लिए बाधित करना चाहिये जो तुम चाहते हो कि हो।

१९. दुःख मत करो। एक ही लड़ाई को बार-बार जीतना होता है, विशेष रूप से तब जब लड़ाई विरोधी शक्तियों से लड़ी जा रही हो। इसलिए तुम्हें धैर्य से लैस होना और परम विजय पर विश्वास रखना चाहिये। विश्वस्त रहना और जीवित-जाग्रत् तथा स्थायी श्रद्धा रखना अच्छा है। साथ ही, विरोधी शक्तियों के मामले में सारे समय जाग्रत् और सच्चा-निष्कपट होना भी अच्छा है।

२०. निश्चय ही उदास और दुःखी होकर तुम भगवान् के पास नहीं पहुँचते। तुम्हें हमेशा अपने हृदय में दृढ़ श्रद्धा और विश्वास तथा मस्तिष्क में विजय की निश्चिति रखनी चाहिये। मेरे और तुम्हारे बीच जो छायाएँ आती और मुझे तुम्हारी दृष्टि से छिपाती हैं उन्हें निकाल बाहर करो। निश्चिति के शुद्ध प्रकाश में ही तुम मेरी उपस्थिति के बारे में सचेतन हो सकते हो।

२१. तुम जितने अधिक दुःखी होओगे और रोना-धोना करोगे उतने ही

अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। भगवान् **दुःखी नहीं हैं** और भगवान् को पाने के लिए तुम्हें समस्त दुःख और समस्त भावुक दुर्बलता को अपने से बहुत दूर फेंक देना होगा।

२२. साहसी बनो और अपने बारे में इतना अधिक न सोचो। तुम दुःखी और असन्तुष्ट इसलिए रहते हो क्योंकि तुम अपने छोटे-से अहंकार को अपनी तन्मयता का केन्द्र बना लेते हो। सभी बीमारियों का बड़ा इलाज है, अपने-आपको भूल जाना।

२३. एकाग्रता का अर्थ ध्यान नहीं है। इसके विपरीत, एकाग्रता तो एक ऐसी स्थिति है जिसमें तुम्हें हमेशा रहना चाहिये—बाहरी क्रिया-कलाप कुछ भी क्यों न हो। एकाग्रता से मेरा मतलब है—समस्त ऊर्जा, समस्त इच्छा, समस्त अभीप्सा केवल भगवान् और हमारी चेतना में उनके सर्वांगीण रूप से चरितार्थ होने की ओर मुड़ी रहे।

२४. अगर तुम अपना काम पूरी सच्चाई के साथ, भगवान् के चरणों में अर्पित भेंट के रूप में करो तो काम उतना ही लाभ पहुँचायेगा जितना ध्यान।

२५. अगर तुम पूरी सच्चाई के साथ भागवत इच्छा को व्यक्त करने के लिए कर्म करो तो बिना अपवाद के सभी कर्म निःस्वार्थ हो सकते हैं। लेकिन जब तक तुम उस स्थिति तक न पहुँचो, तब भी ऐसी क्रियाएँ होती हैं जो भगवान् के साथ सम्पर्क में ज़्यादा सहायक होती हैं।

२६. कोई चीज़ कठिन है, इसका यह मतलब तो नहीं है कि तुम्हें उसे छोड़ देना चाहिये। इसके विपरीत, चीज़ जितनी कठिन हो उतना ही उसे सफलता के साथ पूरा करने का तुम्हारे अन्दर संकल्प होना चाहिये। सभी चीज़ों में सबसे कठिन है भागवत चेतना को जड़-भौतिक जगत् में उतार लाना। तो क्या इस कारण प्रयास छोड़ देना चाहिये?

२७. हमारा मार्ग **बहुत लम्बा** है और यह अनिवार्य है कि अपने-आपसे पग-पग पर यह पूछे बिना कि हम आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, शान्ति के साथ आगे बढ़ा जाये।

२८. अगर तुम डटे रहो तो निश्चय ही सफल होओगे। रही बात मेरी सहायता की, तो तुम विश्वस्त रहो, वह हमेशा तुम्हारे साथ रहती है और तुम्हारी पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती।

२९. जब तुम लोगों से बोलो तो सावधान होकर हमेशा अपने चारों ओर जीवन्त चरम उपस्थिति तथा सुरक्षा को बनाये रखो और कम-से-कम बोलो।

३०. ... जो गुण तुम्हें आध्यात्मिक जीवन-यापन करने का अधिकारी बनाते हैं वे हैं, आन्तरिक सन्तुलन, अपने कर्म में सन्तुलन बनाये रखना और प्रत्येक विषय में संयत होना, सच्चा-ईमानदार, सत्यनिष्ठ होना।

३१. जब तुम सचमुच बदल जाओगे तब तुम्हारे चारों तरफ़ की चीज़ें बदल जायेंगी।

ईशोपनिषद् के आधार पर :

सब कुछ और सब जगह भगवान्

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

शुरू में ही उपनिषद् हमें यह बताता है कि भगवान् सब जगह हैं। हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं या जिस किसी चीज़ का किसी भी तरह अनुभव करते हैं, हर चीज़ के चारों तरफ़ हमें उन्हीं परम प्रभु को अनुभव करना चाहिये। यह पेड़ जिसके नीचे मैं बैठा हूँ, इसे मुझे केवल पत्ते, छाल, गूदा, रस, जड़ नहीं मान लेना चाहिये जो धरती और हवा से मढ़ा हुआ है। मुझे यह जानना होगा कि इसमें भी वही भगवान् प्रकट होते हैं जो हर चीज़ का असल रूप हैं। जिस आवाज़ में मैं बोल रहा हूँ वह आवाज़ भगवान् की वास्तविकता में गूँजती है। चूँकि वह वहाँ गूँजती है इसी कारण उसमें ध्वनि, उच्चारण और अर्थ भी हैं, मैं जो क्रिया करता हूँ या औरों को करते देखता हूँ उस क्रिया को और कोई नहीं स्वयं परम प्रभु ही घेरे रहते हैं और सहारा देते हैं, नहीं तो वह कभी हो ही नहीं सकती। मैं जो कुछ देखता हूँ, मैं भगवान् को देखता हूँ; मैं जो कुछ सुनता हूँ, भगवान् को सुनता हूँ, मैं जो कुछ करता हूँ उसमें भगवान् की शक्ति ही होती है जो मेरी क्रियाओं को चलाती है। यह पहली चीज़ है जिसे कर्मयोगी को अनुभव करना चाहिये। जब तक वह अपने मन को इस पर मज़बूती से

नहीं लगा देता तब तक कर्मयोग असम्भव है। प्रभु सब जगह हैं, प्रभु सभी चीज़ों को घेरे रहते हैं, प्रभु सब कुछ हैं—सब कुछ वासुदेव हैं, मैं जिस किसी कार्य को कर रहा हूँ उसे मैं प्रभु में कर रहा हूँ। यह काम करने वाला मैं प्रभु में ही रहता है और जिसके लिए कार्य किया जाता है वह भी प्रभु में ही है। इसके लिए सबसे पहले हमें यह अनुभव करना चाहिये कि भगवान् सब जगह हैं। जब योगी सब जगह भगवान् के होने की इस आध्यात्मिक अनुभूति को पा लेता है तभी वह कर्मयोग के लायक होता है क्योंकि तब तक वह 'मैं, तू और वह' के सदा लगे रहने वाले बखेड़े को अधिक ऊँचे और अधिक विशाल भगवान् में नहीं डुबा सकता, और न ही तब तक वह अपने ऊपरी मैं में से निकल कर सच्चे 'मैं' में जा सकता है, इस तरह बच निकले बिना कर्मयोग सचमुच शुरू ही नहीं हो सकता। सभी चीज़ों को परम प्रभु में लपेट देना, तुम जो कुछ कहो, करो, अनुभव करो या जिस किसी चीज़ के बारे में जानो उसमें परम प्रभु के बारे में सचेतन बनो। यही कर्मयोग की शुरुआत है। यह अनुभूति अन्तरात्मा की स्वाभाविक अवस्था बन जाये—यही है कर्मयोग की पूर्णता। क्योंकि यह अनुभूति सीधी ब्रह्मज्ञान और उनके साथ एक होने के परमानन्द की ओर ले जाती है। कर्म घुल-मिल कर ज्ञान और भक्ति के साथ एक हो जाता है। कर्म, भक्ति, ज्ञान—ये तीन रास्ते हैं जो बाहरी जगत् से शाश्वत वास्तविकता में ले जाते हैं, और जहाँ तीनों मिल कर एक होते हैं वह उस महान् यात्रा का लक्ष्य है, वही है भगवान् विष्णु का सबसे ऊँचा स्थान। उपनिषद् हमें उसी की ओर मोड़ता और रास्ता दिखाता है। कर्मयोगी का शास्त्र है ईशोपनिषद्। ऊपर बताये तीनों मार्गों में से यह कर्ममार्ग सिखाता है, इसीलिए इसकी सबसे पहली और सबसे ज़रूरी शर्त है भगवान् के लिए काम करना। सभी चीज़ों, प्राणियों, कार्य, कारण, परिवर्तन और अस्थायी तत्त्वों को भगवान् से घिरा हुआ देखना, यह देखना कि ये सब उन्हीं भगवान् के अन्दर और उन्हीं के द्वारा जीते हैं। मैं नहीं बल्कि 'तत्' (ब्रह्म)। 'तत्' ही मेरा सच्चा 'स्व' है, जिसे मैं 'मैं' कहता हूँ, वह तो केवल ऊपरी आवरण और आभास है—इस सत्य का पहला अनुभव ज्ञान का, भक्ति का और कर्म का आरम्भ है "सोऽहम्" "मैं वह हूँ" यही वेदान्त है, 'तत्' ही सच्चा एक, एकमात्र मैं है।

—श्रीअरविन्द

"अवतीर्ण हुईं तुम कौन"

एक उद्‌गीत

(मोना सरकार—जो हम सबके 'मोना दा' हैं—के साथ श्रीमाँ के कई वार्तालाप हुए थे जिन्हें वे बाद में लिख लिया करते थे। उन्हीं के स्मृति-सञ्चय की एक पुस्तक है—The Supreme—जिसका हिन्दी अनुवाद 'परम' हमारे यहाँ की सन्तोष बहन ने किया है। उसी पुस्तक से हम यहाँ श्रीमाँ के प्रति 'मोना दा' की स्तुति उद्धृत कर रहे हैं।—सं.)

ओह, 'कृपा' के पंखों पर उड़ना, 'अज्ञात्' की ऊँचाइयों पर चढ़ना और 'सत्' को जीना—उस सत् को जो हमारे व्यक्तित्व का, सच्चे अस्तित्व का सत् है—

सत्ता की गहराइयों में खो जाना, गहरे, अन्तर में बहुत गहरे उतर जाना, वह अनन्त विराट् बन जाना जो अभी तक अज्ञात रही सृष्टि की तह खोल देता है, सब कुछ उद्‌भासित कर देता है; उस 'निश्चेतन' में डुबकी लगाना जहाँ सब कुछ निस्स्पन्द और अन्धकारमय ही लगता है—लेकिन नहीं, वहाँ भी एक महती 'उपस्थिति' की धड़कन सुनायी देती है—

उस 'अनिर्वचनीय आनन्द' को अनुभव करना जो सब कुछ अपने अन्तर में समोये हुए है और उस परम आनन्दमय वैभव के साथ एक हो जाना जो सृष्टि को उसके चरम 'लक्ष्य' तक लिये चलता है—

उस 'सामगान' को सुनना जिसने ये सारे लोक रचे, जो इस सृष्टि को 'अव्यक्त' के साथ जोड़ता है—

उस 'परम अजेय' को, अतल 'अज्ञेय' को देखना और उस 'दृष्टि' के साथ एक हो जाना जिसमें 'अविनाशी ब्रह्म' की झलक मिलती है...।

देखो, देखो युग-युग की 'जननी' को, उस 'करुणामयी एकम्' को जिसके लिए कब से यह धरती आँखें बिछाये है। आदिकाल से 'यह' गुहार लगा रही है और वह गुहार हमें उसके अधिकाधिक निकट खींचे लिये जा रही है। जीवन के रहस्यों को उद्‌घाटित करने के लिए, भगवान् की ओर जाने के लिए और एक गहन 'सत्य' के चमत्कार के अनुरूप बनने के लिए 'यह' हमें आमन्त्रण दे रही है। तो ये हैं 'उसकी विधाएँ'।

चाहे वह दिग्विहीन निस्तब्धता में ऊर्ध्व की ओर उड़ना हो, चाहे वह अतल गहराइयों में डुबकी लगाना, चाहे वह उन रहस्यमय लोकों के आश्चर्यों को महसूस करना या सुनना और देखना हो जो हमारे भीतर छिपे पड़े हैं अथवा हमारी साधारण दृष्टि से परे हैं,—चाहे उन आनन्दमय लोकों के अन्दर स्थित लोक हों अथवा अपरम्पार सौन्दर्य के भुवन, अथवा रंगों की बदलती-बिखरती महिमा और आभा, संगीत में भागवत सुरलहरी की झंकार, और ज्ञान से व्यक्त होता भागवत आनन्द—केवल 'वे' ही हैं जो हमें वहाँ उन तक ले जा सकती हैं।

सब बोधों और अनुभवों के परे की वह विशाल विपुलता जहाँ नीरवता नीरवता को लील लेती है, जहाँ अनन्त शाश्वत में विला जाता है, जहाँ मानव-आत्मा अपने को भगवान् में निमज्जित पाती है—वहाँ जहाँ केवल 'परम' का ही वास हो सकता है—यह सब 'वे' ही उद्भासित करती हैं।

जब हम अध्यात्म के शिखरों पर स्थित अपनी अखण्ड चेतना में 'उसके' साथ एक हो जाने की अभीप्सा करते हैं तो वह हमें ले जाती है उन प्रदेशों की ओर जहाँ काल थम जाता है, देश की सीमा नहीं रह जाती और हमारा सूर्य भी जहाँ एक हलकी फीकी-सी आभा मात्र होता है,—जहाँ विचार की पहुँच नहीं, जहाँ हमारी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक काराएँ धरी रह जाती हैं, जहाँ वास होता है केवल 'परम सत्य' का।

वहाँ, वहाँ ढूँढ़ो 'उन्हें' 'उनके' भव्यतम, भास्वर, नित-नवीन सौन्दर्य में; महसूस करो 'उनकी' सर्वव्यापी 'शक्ति' को; बह जाने दो अपने को 'उनके' उस सर्वाकर्षी और सम्मोहक 'आनन्द' के प्रवाह में।

विशुद्ध आनन्द के यही वे परम धाम और लोक हैं जहाँ माँ हमें ले जाती हैं जब हम 'उन्हें' बोलते सुनते हैं, 'उनके' कार्यकलाप देखते हैं, 'उनकी' चेतना में साँस लेते हैं, अपने भीतर 'उनके' प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं।

विस्मयकारी महान् 'सत्य'! विश्वास से परे!

माँ, तुमने जो कुछ अनावरित किया है उसका ओर-छोर नहीं, यद्यपि यह तो तुम्हारे महास्पन्दन की एक छोटी-सी लहर है केवल। यह तो एक आविर्भाव है, एक 'शक्ति' है जो 'तुमने' 'अपने' में से प्रक्षिप्त की है, उस अभिव्यक्त 'सत्य' की वास्तविकता है जिसे ग्रहण करने को अभी धरती तैयार नहीं। फिर भी तुम तो 'अपनी' कृपा-करुणा बरसाये ही जा रही हो

—उससे कहीं ज़्यादा जितनी कि हमारी झोली में समा सकती है।

माँ, तुमने पट खोल दिये हैं, वे पट, जो लगता था कि सदा बन्द ही रहेंगे। माँ, हम तुमसे याचना करते हैं कि हमें उस कूलरहित अनन्त की ओर ले चलो, शाश्वत आनन्द से भरे जीवन का वर प्रदान करो।

अपने को प्रकट करो माँ! —मोना सरकार

जीने की कला—आध्यात्मिकता

श्रीअरविन्द जिस आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हैं वह है मानवता के अन्दर भगवान् को पाना, उन्हें उसके अन्दर अभिव्यक्त करना। यही उपहार वे मानवजाति को देना चाहते हैं—भगवान् को मनुष्यों के अन्दर अभिव्यक्त करना और सशरीर उतारना। उनका लक्ष्य केवल मानवजाति में सुधार लाना नहीं बल्कि पूर्ण बदलाव और रूपान्तरण है, मानवजाति का दिव्यीकरण है।

यहाँ हमें उन ग़लत धारणाओं से बचना चाहिये जो मनुष्यों के अन्दर उभरती हैं। मानवजाति के रूपान्तरण का अनिवार्य रूप से यह अर्थ नहीं है कि सम्पूर्ण मानवता देवताओं या भागवत सत्ताओं में परिवर्तित हो जायेगी। इसका अर्थ है, धरती पर उच्चतर प्रकार की मानवता का प्रादुर्भाव, जिस तरह पशु से मनुष्य—अर्थात् उच्चतर प्रकार की पशुता—का जन्म हुआ। उस समय सारा पशु-जगत् मानवता में नहीं बदल गया था।

कभी-कभी हमारा अज्ञानी मानव मन श्रीअरविन्द के इस महान् आदर्श के बारे में शंका करता है, लेकिन तब हमें उनके इस कथन को याद कर लेना चाहिये—यह रूपान्तर सम्भावना नहीं बल्कि अनिवार्यता है। हमें यह सतत याद रखना चाहिये कि जो शक्ति यह रूपान्तर सिद्ध करेगी और जो उस कार्य में लगी हुई है वह कोई वैयक्तिक मानव शक्ति—चाहे वह कितनी भी महान् क्यों न हो—नहीं, बल्कि स्वयं भगवान् है, वह स्वयं भागवत शक्ति है जो इस आदर्श को चरितार्थ करने के लिए कटिबद्ध है।

यही है रहस्य का मर्म, समस्या की कुञ्जी। अतिमानव या भागवत जाति का प्रादुर्भाव—यह चाहे जितनी महान् या चमत्कारिक घटना क्यों न लगे—लेकिन यह घटना इस पृथ्वी पर व्यावहारिक बन सकती है, ठोस

रूप ले सकती है क्योंकि इस कार्य का बीड़ा किसी मानव-संस्था ने नहीं बल्कि स्वयं भगवान् ने अपने परम प्रभुत्व, प्रज्ञा तथा प्रेम के वशीभूत हो उठाया है। श्रीअरविन्द के योग की सम्पूर्ण साधना है—सामान्य मानव प्रकृति में भगवान् का अवतरण ताकि वे उसे शुद्ध और रूपान्तरित कर उसे अपना आवास बना लें। साधक से बस इसी की माँग की जाती है कि वह शान्त, अचञ्चल और उद्घाटित रह कर अभीप्सा करे और उस परमा शक्ति को ग्रहण करने के लिए अपने-आपको उचित पात्र बनाये। तब ऐसी अवस्था आ जायेगी कि वह अपने व्यक्तिगत प्रयास से नहीं बल्कि भागवत स्वामी तथा पथ-प्रदर्शक को समर्पित चेतना के साथ काम करेगा। अतीत की सभी योग-पद्धतियाँ और आध्यात्मिक अनुशासन तो चेतना के आरोहण, परम आत्मा के साथ उसकी एकात्मता और अन्त में मुक्ति प्राप्त करने की बात करते हैं, सभी ऊपर उठ कर अन्य लोक में चले जाने का सुझाव देते हैं, जब कि श्रीअरविन्द कहते हैं कि उस परम भागवत चेतना को यहाँ मानव चेतना में उतर कर उसे ऊर्जस्वी तथा रूपान्तरित करना है। यह कार्य स्वयं भागवत चेतना, भागवत शक्ति करेगी। यही है इस युग के क्रम-विकास का शिखर।

यह कार्य कैसे होगा इसके ब्योरे में अभी जाना सम्भव नहीं है, लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि भागवत प्रकाश पहले मन में उतर कर उसे शुद्ध बनायेगा—यद्यपि सबसे पहले अन्तरतम हृदय ही भागवत उपस्थिति को पहचानता और उसे कार्य करने देने के लिए अपनी स्वीकृति देता है —लेकिन मन, उच्चतर मन ही है सामान्य मानव चेतना का शिखर और वही सबसे पहले नयी चीज़ों को आसानी से पकड़ता और उन्हें अभिव्यक्त करता है। मन से छन कर प्रकाश भावनाओं और आवेशों, जीवन-क्रियाओं और प्राणिक ऊर्जाओं में उतरता है और अन्त में वह जड़-भौतिक प्रकृति में पहुँचता है, यानी भौतिक शरीर के ठोस अन्धकार और कठोरता में प्रवेश करता है, क्योंकि उसे भी प्रकाशित करना और दिव्य प्रकाश का आकार और रूप देना है। यह परम भागवत कृपा है जिसने धरती पर उतरना स्वीकार किया है, भगवान् ही हैं वे महान् शिल्पी जो अनगढ़ मानव जीवन और मानव प्रकृति को भागवत सत्य की भव्य इमारत में गढ़ रहे हैं, लेकिन इसके लिए मनुष्य को अपने-आपको रूपान्तरित करने का दृढ़

निश्चय करना होगा और इस पथ के सभी रहस्यों को सुलझाने के लिए उसके अन्दर अदम्य साहस होना चाहिये।

इसके साथ ही जुड़ा है एक और प्रश्न जो मानवजाति को बीच-बीच में सताता रहता है। हम बहुधा यह पूछ बैठते हैं कि आख़िर यह सब होगा कब? यह निकट भविष्य में होगा या इसमें अभी सैकड़ों वर्ष लगेंगे? काम की महानता को देख कर हम यह तर्क दे सकते हैं कि सारा अनन्त हमारे सामने बिखरा पड़ा है और एक शताब्दी या सहस्राब्दी भी ऐसे अद्वितीय कार्य के लिए कुछ नहीं है—यह है ऐसा अनुपम दिव्य कर्म जिसकी अतीत के सभी ऋषि-मुनियों, चिन्तकों ने कल्पना की थी, आशा की थी। फिर भी, जैसा कि हमने कहा, चूँकि यह भगवान् का अपना काम है और योग का अर्थ ही है संकेन्द्रित क्रिया, अतः यह सच है कि सामान्य तौर पर क्रिया चरितार्थ होने में बरसों ले लेती है, लेकिन यह दिव्य संकेन्द्रित कर्म बहुत कम समय लेगा—ऐसी हम आशा करते हैं। हाँ, यह कार्य हमारे जीवन-काल में होगा या नहीं ये सब महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं हैं क्योंकि ऐसे विराट् कर्म के लिए कुछ दशक इधर या उधर अधिक महत्त्व नहीं रखते।

जहाँ तक सबकी सिद्धि या उपलब्धि का प्रश्न है, हम फिर से कहते हैं कि यह मुख्य प्रश्न नहीं है। हमें संख्या नहीं, गुण और तत्त्व चाहिये। यानी, अगर कुछ लोग भी इस पथ के पथिक हों तो कम-से-कम आरम्भ करने के लिए यह पर्याप्त है, बशर्ते कि प्रयास सच्चा, यथार्थ हो, क्योंकि—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

इस लेख के अन्त में मैं बस इतना जोड़ना चाहूँगा कि सचमुच आध्यात्मिकता है, जीने की कला। कला का अर्थ ही है, किसी भी क्षेत्र में आन्तरिक जीवन को उभारना, उसके अन्दर के दिव्य तत्त्व को उजागर करना। और आध्यात्मिकता है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निहित भगवान् को प्रकट करना। इस तरीक़े से आध्यात्मिकता सभी कलाओं में सबसे कठिन कला है—यह है सच्चा जीवन जीने की कला। जीवन को सौन्दर्य का गढ़ बनाना ही है आध्यात्मिकता। जीवन सामञ्जस्यपूर्ण गतियों से लहराता हो, बल से दमक रहा हो, प्रकाश से परिपूर्ण हो, आनन्द से सराबोर हो, भगवान् का स्वरूप हो—एक शब्द में, यही है धरती पर आध्यात्मिकता।

—नलिनीकान्त गुप्त के लेख पर आधारित

श्रीअरविन्द का पूर्णयोग

(श्रीअरविन्द-श्रीमाँ के अनन्य भक्त, आश्रमवासी स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु' ने बहुत पहले 'श्रीअरविन्द का पूर्णयोग' नामक पुस्तक लिखी थी। श्रीअरविन्द के पूर्णयोग के सम्बन्ध में सरल भाषा में लिखी इस पुस्तिका का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९४८ में हुआ था।

नये साधकों के लिए विशेष रूप से उपयोगी इस पुस्तिका को हम 'अग्निशिखा' में सिलसिलेवार छापने की कोशिश करेंगे।

श्रीगणेश नूतन वर्ष से किया जा रहा है—सं.)

श्रीअरविन्द के पूर्णयोग का स्वरूप

श्रीअरविन्द के पूर्णयोग को कुछ पृष्ठों में लिख कर समझाना गागर में सागर भरने की चेष्टा करना है। वह एक नवीन युग का शुभ सन्देश है, एक ज्योतिर्मय भविष्य की सूचना है, एक नयी सृष्टि की योजना है, एक अभिनव दृष्टिकोण है। उनके पूर्णयोग को वैदिक ऋषियों की अध्यात्म-साधना की चरम परिणति कहना, उनके योग-यज्ञ की पूर्णाहुति समझना कविता नहीं, वास्तविकता ही होगा।

इस समय एक ऐसे योग की आवश्यकता थी जो पूर्व और पश्चिम में, भूत और वर्तमान में, सामञ्जस्य स्थापित करे, एक सेतु बाँधे, एक ऐसा ज्योतिर्मार्ग दिखाये जिससे न हम अतीत के सञ्चित धन से वञ्चित हों और न आधुनिक युग की देन को छोड़ने के लिए बाध्य हों। पुराने आदर्श को फिर से वापस नहीं बुलाया जा सकता। पुरातन को उसी रूप में लौटा लाना असम्भव है। काल-प्रवाह दूसरी ओर बह रहा है। पर हम प्राचीन को भूलना नहीं चाहते, हम उसके प्रभाव से प्रभावित हैं, उसके गौरव से गौरवान्वित हैं। उधर पश्चिमी सभ्यता के प्रति भी हमारा आकर्षण कम नहीं है। इससे प्रत्यक्ष है कि हम दोनों चाहते हैं, पर यह कैसे सम्भव हो सकता है? इस असम्भव को सम्भव करने के लिए ही पूर्णयोग का आविष्कार हुआ है।

पूर्व और पश्चिम में एक और अन्तर है। पूर्व प्यासा है शाश्वत सुख का, पश्चिम भूखा है भौतिक सुख का। कहा जाता है, भारत की भू से भी

भक्ति की सुगन्ध आती है। भारत कभी भौतिक सुख का अनन्य पुजारी नहीं हुआ। सब कुछ पाकर, सब में रह कर भी, उसके अन्दर एक अतृप्ति की आग सदा सुलगती रही है। उसकी दृष्टि ऊपर को है। पूर्व की निश्चित धारणा है कि भौतिक पदार्थों से कोई कितना भी अपना घर क्यों न भर ले, उनसे उसे पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

पूर्व की तरह पश्चिम में कोई योग को, आन्तरिक उन्नति को विशेष महत्त्व नहीं देता। कुछ इने-गिनों को छोड़ कर, वहाँ की साधारण जनता का उद्देश्य रहता है, जैसे भी हो ऐसी शक्ति प्राप्त करना कि पृथ्वी का सारा ऐश्वर्य जी-भर के उपभोग किया जा सके, सबको देह, प्राण, मन से लूटा जा सके। अन्तर्निहित सारी शक्तियों को विकसित करके सब कुछ यहीं पाना, कौन जाने वहाँ क्या है—यही रही है पाश्चात्य की मनोवृत्ति। इन दोमुखी भावों में, ज्योति और जीवन में सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए ही पूर्णयोग का जन्म हुआ है।

प्राचीन मत में सीमा के बन्धन को तोड़ कर, देह-दासता से मुक्त होकर, असीम को पाना ही योग है। श्रीअरविन्द ने योग का एक और अर्थ किया है। योग की इस नूतन परिभाषा से, मानव की आध्यात्मिक साधना में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन-सा आ गया है। योगयुक्त होकर कर्म करने की बात आज से पाँच हज़ार वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण ने कही थी, पर वह बुद्ध के शून्यवाद और शंकर के मायावाद की बाढ़ में बह गयी। तब से अब तक योग सर्वसुलभ नहीं हो सका। योग के नाम से हमारे घर के लोग भागते रहे। इसका फल यह हुआ कि योग की सञ्जीवनी बूटी से, सर्वरक्षिका शक्ति से हम वञ्चित हो गये और तम की क़ब्र में जा गिरे। श्रीकृष्ण के बाद किसी ऐसे महान् व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव नहीं हुआ जो श्रीअरविन्द की तरह शंखनाद करे कि जीवन से युद्ध भी करना होगा और योग भी करना होगा, जीवन से भागना नहीं, जीवन को ही कुरुक्षेत्र बनाना होगा, कर्म में ही भगवान् को पाना और प्रकट करना होगा। यदि योग से जीवन समृद्ध नहीं हुआ, साधारण जीवन के व्यर्थ चक्र से परित्राण पाने के लिए वह हमारे लिए रास्ता नहीं खोल सका, तो योग की सार्थकता क्या?

श्रीअरविन्द ने अपने योग का नाम पूर्णयोग दिया है। अब देखना यह है कि वह किस भाँति सभी अंशों में पूर्ण है। प्रायः प्रत्येक योग ने एक

अंग पर ज़ोर देकर उसको ही पूर्ण रूप से सिद्ध करने की चेष्टा की है, और सब अंगों को केवल उसी एक भाव की पूर्ति के लिए छोड़ दिया है। अथवा दूसरे शब्दों में, और सब अंगों को विकसित करने की न चेष्टा ही की जाती है न उन्हें अवसर ही दिया जाता है। उदाहरणार्थ, हठयोग शरीर और प्राण को शुद्ध और सिद्ध करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है, पर वह चित्त, मन, बुद्धि का विकास करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। वेदान्ती पुरुष को ले लेते और शक्ति को छोड़ देते हैं और तान्त्रिक शक्ति को ले लेते और पुरुष को छोड़ देते हैं। श्रीअरविन्द का पूर्णयोग जीवन के प्रत्येक अंग को विकसित कर उसे प्रभु का उपयुक्त पात्र बना देता है। शरीर के अन्दर अथवा बाहर कहीं कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भाग भी नहीं रह जाता जिसमें प्रभु का निवास न हो जाये। इस योग की एक बड़ी विलक्षणता यह है कि इतने प्रकार के योगों का तथा उनके मूल तत्त्वों का समन्वय इतने सुन्दर रूप से किया गया है कि हर एक को उसका उपयुक्त स्थान मिल गया है।

सत्ता के दो छोर हैं, एक छोर में है भौतिक जड़-पदार्थ और दूसरे छोर में है आत्मा। हमारे आचार्यों ने इन दोनों में कोई एकता, कोई सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा नहीं की। उनकी धारणा थी कि दुनिया का त्याग किये बिना दुनिया के मालिक से भेंट नहीं हो सकती। पर बात ऐसी नहीं है। श्रीअरविन्द का कथन है कि आत्मा जड़-तत्त्व को बाहुपाश में बाँध सकती है और जड़-तत्त्व अपने अन्तर्निहित सत्य को प्राप्त कर सकता है। सच्चिदानन्द ही जड़ में उतरे हैं और वे ही अपने-आपको प्रकट कर रहे हैं। जड़ में उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति युक्तिसंगत ही नहीं, अनिवार्य है। प्रकृति का क्रमविकास यही प्रदर्शित करता है।

जीवन का अन्त मृत्यु नहीं हो सकता। जगन्मिथ्यावाद का खण्डन करने के लिए श्रीअरविन्द ने सैकड़ों पृष्ठ लिखे हैं। वैदिक ऋषियों ने जगत् को मिथ्या कह कर कभी उसका तिरस्कार नहीं किया। राजे-महाराजे तक सुख के पलने में सोने वाले अपने पुत्रों को ऋषियों के आश्रम में—धूनी तापने के लिए नहीं—संयत और उन्नत जीवन प्राप्त करने के लिए भेजा करते थे। जीवन से भाग कर, जगत् को साँप की केंचुली की तरह त्याग कर हम जगत् के दोषों को दूर नहीं कर सकते। घर को सूना देख कर शैतान

घुसेंगे ही। हमें जीवन की झञ्झा से जम कर जूझना होगा और उस पर विजय प्राप्त करनी होगी। जीवन-प्रदीप को आत्मा के आलोक से आलोकित करना होगा। इस प्रकार पूर्णयोग का उद्देश्य आर्य ऋषियों की विचारधारा का निरूपण मात्र नहीं है और न इसका ध्येय गीता के तत्त्वों का प्रतिपादन करना ही है। नर और नारायण, जड़ और आत्मा, मर्त्य और स्वर्ग के बीच जो दुर्भेद्य चीन-दीवार खड़ी है उसे तोड़ना और उनमें एकता स्थापित करना ही है पूर्णयोग का चरम और परम लक्ष्य। यहाँ न स्त्री-पुरुष का, न जाति-वर्ण का भेद है, न काले-गोरे का सवाल है, न पूर्व-पश्चिम का प्रश्न है। समग्र मानवजाति के लिए इसका द्वार खुला है।

अब यह देखना है कि पूर्णयोग भगवान् का कौन-सा स्वरूप हमारे सामने रखता है, उन्हें किस रूप में हमें साक्षात्कार कराना चाहता है। प्राचीन योग के अनुसार या तो हमें मन को मार कर ब्रह्म में लीन होना होता है या स्वर्गीय ऐश्वर्य लूटने के लिए बैकुण्ठ का टिकट कटाना पड़ता है। बुद्ध ने निर्वाण के आदर्श का प्रचार किया और शंकर ने ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या का। शंकर के ब्रह्म, बुद्ध के महाशून्य की तरह सर्वग्रासी नहीं थे, वे परमब्रह्म परमेश्वर थे, पर उनके मत से इहलोक को छोड़े बिना उस लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती। रामानुज ने भूलोक और गोलोक दोनों को स्वीकार किया है पर उन दोनों में उन्होंने एक दुर्भेद्य अन्तराल की कल्पना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी ने सत्य को निर्गुण, निष्क्रिय रूप में देखा और किसी ने सगुण, सक्रिय रूप में, पर श्रीअरविन्द के मत से इनमें कोई विरोध नहीं है। मनुष्य की बुद्धि जिस तरह भगवान् का अव्यक्त, अनिर्वचनीय रूप देखना चाहती है, उसी तरह उसके प्राण भगवान् के माधुर्य का रसपान करना चाहते हैं। बुद्ध की तरह प्राणों के अधिकार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, एक की उपेक्षा कर दूसरे को मानने से हमें सत्य की आंशिक उपलब्धि होगी, पूर्णता की प्राप्ति नहीं हो सकती।

पूर्णयोग उसे जगत् के आधार, जगत् के ईश्वर-रूप में ही नहीं, बल्कि जगन्नियन्ता, जगन्मय के रूप में भी प्राप्त करना चाहता है। वह विश्वातीत होकर भी, विश्वव्यापी है, इसके कण-कण में परिव्याप्त है। इस प्रकार पूर्णयोग सत्य को, उपनिषद् के पूर्णब्रह्म को हमें सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय, क्षर-अक्षर, परात्पर रूप में प्राप्त तो कराना चाहता है पर एक को

दूसरे के लिए बलिदान करके नहीं। वह उस एक का ही हमें पूर्ण प्रकाश दिखलाना चाहता है और यही है उसकी विलक्षणता।

भारत में मुक्ति के कई भेद हैं। अहैतुकी भक्ति द्वारा भगवान् को बाँध कर मन के फण पर नचाना भक्त चाहता है, और अपनी इच्छाओं को भगवदिच्छा में लय करके साधर्म्य प्राप्त करना कर्मी चाहता है, पर ज्ञानी की खोज कुछ और है। वह चाहता है सायुज्य-मुक्ति। किन्तु श्रीअरविन्द कर्म, भक्ति और ज्ञान में कोई विरोध नहीं पाते। ज्ञान जब पूर्णता को प्राप्त होता है तो परमा भक्ति का अभ्युदय होता है और पूर्ण ज्ञान से ही उन दिव्य कर्मों का सम्पादन होना सम्भव होता है जिससे नूतन सृष्टि की नींव पड़ती है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के हाथ में पड़ कर भगवदिच्छा कामना, वासना के रूप में परिणत हो जाती है। कामना की रस्सी को काट कर जो योगी भगवान् के आगे आत्म-निवेदन करता है उसके भीतर से भगवदिच्छा बेरोक-टोक स्वयं अपना कार्य करने का सुयोग पाती है। इसके फलस्वरूप कर्म का एक नवीन स्रोत खुल जाता है।

पूर्णयोग सब धर्मों की तात्त्विक एकता को स्वीकार करता है और फिर उससे आगे बढ़ता है। श्रीरामकृष्ण ने संसार को यह प्रत्यक्ष दिखा दिया था कि सभी धर्म मूलतः एक हैं। सभी नद-नदियाँ जैसे सागर में जाकर मिलती हैं वैसे किसी भी प्रचलित साधना के द्वारा हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि सभी धर्म उसकी ओर अँगुलि-निर्देश करते हैं पर उनमें से प्रत्येक किसी एक अंग पर इतना ज़ोर देता है कि दूसरों को विकसित होने का अवकाश ही नहीं मिलता। उदाहरण के लिए, इस्लाम भगवान् की प्रभुता पर जितना ज़ोर देता है उतना प्रेम पर नहीं देता जो ईसाइयों की आधारशिला है। वेदान्तीगण ज्ञान के अतिरिक्त और किसी पर, यहूदी (Jews) भगवान् के न्याय और क़ानून के सिवा और किसी पर कोई विशेष ध्यान नहीं देते।

श्रीरामकृष्ण प्रायः कहा करते थे कि द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद भिन्न-भिन्न नहीं, बल्कि एक ही सत्य के विविध पहलू हैं। फिर भी उनका सुझाव निर्विकल्प समाधि की ओर ही अधिक रहता था। जरा-व्याधि-ग्रस्त शरीर को वे फूटा ढोल कहते रहे, उसे शिवमन्दिर बनाने की बात उन्होंने कभी नहीं कही। उस आनन्दधन को उतार कर इस मन्दिर में, इस पृथ्वी पर बसाया जा सकता है, हमारे दैनिक जीवन में उसे मूर्तिमान्

किया जा सकता है, यह सम्भवतः उनकी धारणा के भी परे था, और यही है दुनिया को श्रीअरविन्द की सबसे बड़ी देन। दुनिया ने राम को समझा और उन्हें अपनाया भी, पर वह श्रीकृष्ण को, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व को, उनकी पूजा करके भी समझ नहीं सकी। ईसामसीह की लोकसेवा के व्रत को उसने जीवन में उतारा, परन्तु 'भगवान् का राज्य तुम्हारे अन्दर ही है' (The Kingdom of Heaven is within you) यह आदर्श बन कर पुस्तकों में ही पड़ा रहा। जो अब तक नहीं हुआ उसी को सम्पादित करने के लिए पूर्णयोग की रचना हुई है।

(क्रमशः) —स्व. नारायण प्रसाद 'बिन्दु'

'नयी कोंपलें':

तुझे...

मैं तुझे लिख रही हूँ, जो कई समुन्दर पार, मुझे सुन रहा है। तू, जो मुझे देखे बिना ही मुझे पहचानता है। मैं तुझे लिख रही हूँ, तू जो मेरा दूसरा हिस्सा है।

मैं तुझे लिख रही हूँ, अपना प्यार भेज रही हूँ, जो पवित्र और सच्चा है, जो इन हवाओं पर तैरता हुआ तेरे पास आ रहा है। मैं तुझे लिख रही हूँ, उस भक्ति-भाव से, जो धरती के पास होता है नभ के लिए, जो एक पतिंगे के पास होता है, रौशनी के लिए। मैं तुझे लिख रही हूँ, उस लालसा के साथ, उस तमन्ना के साथ जो रात की होती है भोर के लिए, क्योंकि वे कभी मिलते नहीं, मगर रात अपनी अभिलाषा नहीं छोड़ती। मैं तुझे लिख रही हूँ उस शक्ति के साथ जिसमें पहाड़ हिला देने का बल है।

मैं तुझे लिख रही हूँ, मगर मैं किसी की भी अपेक्षा नहीं कर रही। मैं तुझे लिखते हुए अपने-आप का पूरा समर्पण कर रही हूँ। मैं तुझे लिखते हुए अपना हृदय तेरे हाथों में सौंप रही हूँ, जिसे तू अपने हृदय से जोड़ कर प्यार से रख सके।

मैं तुझे लिख रही हूँ कृतज्ञता के साथ, मेरी ज़िन्दगी को मुग्ध करने के लिए। मैं तुझे लिख रही हूँ, शुक्रिया अदा कर रही हूँ अपनी ज़िन्दगी मेरे साथ बाँटने के लिए। मैं तुझे लिख रही हूँ और तुझे विश्वास दिला रही हूँ

कि दुनिया के एक कोने में, तेरे लिए मैं सदैव हूँ। मैं तुझे लिख रही हूँ, एक अभिस्वीकृति से, हमारे इस बन्धन के लिए, जो कभी नहीं था, मगर फिर भी भरपूर लगता है। मैं तुझे लिख रही हूँ, तुझे चमत्कारों में यकीन दिलाने के लिए, वही चमत्कार जो मुझे तुझ तक पहुँचाये।

मैं तुझे लिख रही हूँ, हमारे प्यार में विश्वास रखते हुए, कि चाहे कुछ भी हो जाये, जितनी भी दूर हम हो जायें, एक दिन हम हमेशा के लिए एक हो जायेंगे।

मैं तुझे लिख रही हूँ, क्योंकि समुद्र के बीच, लहरों के साथ, तैरता, भटकता तू, इस प्यार का एहसास कर चुका है, मुझे सुन रहा है और मेरा इन्तज़ार कर रहा है।

मैं तुझे लिख रही हूँ, तू, जो शायद इस धरती, इस समुन्दर, इस त्याग, इस नभ में सितारों के साथ तैर रहा है।

—शाम्भवी

एक व्यक्ति रात को अपनी झोंपड़ी में बैठ कर, एक छोटे-से दीये को जला कर कोई शास्त्र पढ़ रहा था। आधी रात बीत गयी। जब वह थक गया तो फूँक मार कर उसने दीया बुझा दिया।

लेकिन वह यह देख कर हैरान हो गया कि जब तक दीया जल रहा था, पूर्णिमा का चाँद बाहर खड़ा रहा।

लेकिन दीया बुझा नहीं कि चाँद की रौशनी कमरे में फैल कर विराजमान हो गयी।

वह व्यक्ति हैरानी में पड़ गया कि एक छोटे-से दीये ने इतने बड़े चाँद को बाहर रोके रखा था!

इसी तरह हमने भी अपने जीवन में अहंकार के छोटे-छोटे अनगिनत दीये जला रखे हैं जिनके कारण परमात्मारूपी चाँद हमारी चौखट पर ही इन्तज़ार करते रह जाते हैं।

कब तक इन्तज़ार करवाते रहेंगे आख़िर हम 'उनको'?...

मेरा केसरी जीता, सिंह हारा

कहते हैं कि यह कहानी सच्ची है। औरंगज़ेब का शासन-काल था। जोधपुर-नरेश राजा जसवन्तसिंह औरंगज़ेब की अधीनता स्वीकार कर मुग़ल सेनापति के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। औरंगज़ेब अपने रास्ते के भयंकर काँटे शिवाजी को उखाड़ने की जी-तोड़ कोशिश में लगा था लेकिन शिवाजी थे कि किसी तरह हाथ ही न आते थे। शाइस्ताख़ाँ शिवाजी से बुरी तरह परास्त होकर उनसे अपना अँगूठा कटा कर वापिस आ गये थे, औरंगज़ेब का सारा ग़ुस्सा महाराज जसवन्तसिंह पर उतरा। बोले—"मैं आप सब लोगों को इतना बेवकूफ़ न समझता था कि एक लाख फौज और बेशुमार रुपया मुट्ठी-भर मराठों को क़ाबू में लाने को काफ़ी न हुआ।" जसवन्तसिंह भी तैश में आकर बोल उठे—"जहाँपनाह, जिस लश्कर के साथ पूरा ज़नानख़ाना और ऐशो आराम की सारी चीज़ें चलें वह उन मराठों से भला कैसे पार पा सकता है जिनके लिए घोड़ों की पीठ ही मख़मली गद्दे हैं, चने ही राजसी भोजन हैं और तलवार ही अंकशायिनी सहचरी है? मुग़लसेना अपने ज़नानख़ानों की हिफ़ाज़त करे या मराठों से लड़े...!"

इस कटु सत्य को सुन कर बादशाह मन ही मन तिलमिला उठे। उस समय तो ख़ून का घूँट पीकर रह गये लेकिन अन्दर ही अन्दर क्रोध की भभकती ज्वाला ने गुप्त रूप से जसवन्तसिंह को मौत के घाट उतारने का फैसला कर लिया।

रात की साँय-साँय करती भयंकर निस्तब्धता को मुग़ल घोड़ों की टापें चीर रही थीं। महाराज जसवन्तसिंह अपने बहादुर अंगरक्षक मुकुन्ददास के साथ अपने महल को लौट रहे थे। अचानक न जाने कहाँ से दस-बारह नक़ाबपोश घुड़सवारों ने आकर उन पर धावा बोल दिया। इस अप्रत्याशित हमले से पहले तो दोनों सवार डगमगा गये, महाराज की बाँह पर तलवार का वार लगा, लेकिन जहाँ मुकुन्ददास जैसा अंगरक्षक हो, वहाँ मौत भी सहम कर बच निकले। देखते न देखते एक ही वीर ने उन सबको मौत की नींद सुला दिया। नक़ाब उतारने पर महाराज और मुकुन्ददास तो काठ की मूरत बन गये। ये तो अपनों ने ही वार किया था, यानी मुग़ल सैनिकों ने!

घायल महाराज के बहुत मना करने पर भी मुकुन्ददास उसी समय

महाराज के साथ बादशाह के दरबार में आन उपस्थित हुआ। आश्चर्य! बादशाह ऐसे असमय अपने शयनागार में न होकर सभाकक्ष में अन्य मन्त्रियों के साथ किसी विचार-विमर्श में लगे थे। इस अप्रत्याशित आगमन से सब चौंक अवश्य गये, लेकिन बादशाह ने तुरन्त उठ कर अचरज-भरे स्वर में पूछा—"यह क्या महाराज जसवन्तसिंहजी, आप और घायल?"

मुकुन्ददास तो क्रुद्ध शेर की भाँति दहाड़ उठा—"बादशाह! यह आप पूछ रहे हैं! क्या आप नहीं जानते कि स्वयं शाही अंगरक्षकों ने इन पर वार किया है।"

मुग़ल सेनापति दिलेरख़ाँ ने गरज कर कहा—"चुप रहो मुकुन्ददास! बादशाह के सामने की गयी गुस्ताख़ी का अंजाम जानते हो?"

सेनापति की गरज ने मुकुन्ददास के ग़ुस्से पर घी का काम किया। महल की दीवारों को कँपाता हुआ वह गुर्राया—"जी हाँ, ख़ूब जानता हूँ, लेकिन सच्चा राजपूत हूँ, अंजाम की मुझे परवाह नहीं, क्योंकि बेअदब विश्वासघातकों और वञ्चकों की काली करतूत का पर्दाफ़ाश करके रहूँगा।"

औरंगज़ेब की त्योरी चढ़ गयी, दिलेरख़ाँ क्रोध की भट्टी बन गया, महाराज जसवन्तसिंह ने आँखों ही आँखों में मुकुन्ददास को शान्त रहने की आज्ञा दी, लेकिन वह सिंह तो सबकी उपेक्षा कर छाती तान कर आज अन्याय से भिड़ने आया था। जसवन्तसिंह ने अपने वीर की जान ख़तरे में देख औरंगज़ेब से निवेदन किया—"जहाँपनाह, इसकी गुस्ताख़ी माफ़ हो। इसी वीर ने आज मेरी जान बचायी। दो टूक बोलने वाला यह दिल से खरा सोना है।"

बादशाह बोले—"महाराज, आपका लिहाज़ करके ही मैं इसे माफ़ करता हूँ, लेकिन बहादुर होना ही उजड्डता का कारण नहीं होता। मेरी ख़िदमत में एक से बढ़ कर एक बहादुर हैं, लेकिन उजड्ड नहीं।"

मुकुन्ददास झपट कर बोल उठा—"सम्भव है दिल्ली में बहादुरों की खेती होती हो, लेकिन राजपूत को वीरता की कसौटी पर कसे बिना बहादुर का दर्जा नहीं दिया जाता हुज़ूर।"

बादशाह तिलमिला उठे। ऐसी कोपभरी दृष्टि फेंकी कि कोई और होता तो वार सह ही नहीं पाता, लेकिन मुकुन्ददास तो किसी और ही मिट्टी का बना था, पलट कर बोल उठा—"राजपूत की वीरता को जब चाहें कसौटी

पर कस लीजियेगा।"

"कसूँगा, अब तो ज़रूर कसूँगा। तुम्हीं बताओ किस तरह तुम्हें कसौटी पर कसूँ?" बादशाह की वाणी में क्रोध के साथ-साथ व्यंग्य था।

"सब तरह"—मुकुन्ददास भी होंठ बिचका कर मुस्कुराया "क्योंकि जहाँपनाह, राजपूत सब तरह से सिंह होते हैं, गीदड़ नहीं, स्वामिभक्त होते हैं नमकहराम नहीं।"

"अच्छा तो ठीक है। अब सिंह का मुक़ाबला शेर से ही होगा। दिलेरख़ाँ, कल शाम मुकुन्ददास निहत्था शेर से लड़ेगा। सारा बन्दोबस्त कर दिया जाये।" औरंगज़ेब मुट्ठियाँ भींच कर उठ खड़े हुए।

जसवन्तसिंह घबरा उठे। हाथ जोड़ कर बादशाह से मिन्नत माँगनी चाही कि मुकुन्ददास की वाणी सभा में गूँज उठी—"ठीक है बादशाह, मैं प्रस्तुत हूँ। अब सिंह का मुक़ाबला शेर से होगा। हुज़ूर, मेरे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं; क्योंकि माँ भवानी हमेशा मेरे साथ हैं। ज़िन्दा रहा तो उनका वरद हस्त सदा की भाँति मेरी रक्षा करता रहेगा और अगर चल बसा तो उनके उसी वात्सल्यमय अंक में चिरकाल के लिए बस जाऊँगा जिसको पाने के लिए ऋषि-मुनि कठोर तपस्या करते हैं।" अपने महाराज जसवन्तसिंह को प्रणाम कर मुकुन्ददास सभा से निकल गया।

सारे राज्य में ढिंढोरा पिट गया। नियत समय पर क़िले के मैदान में लोगों के ठठ के ठठ जमा हो गये। छोटे-बड़े, अमीर-उमराव सभी इस अद्‌भुत और भयंकर युद्ध को देखने जमा हो गये थे। मैदान के बीच में मज़बूत लोहे के पिंजरे में एक भीमकाय शेर ग़ुर्राता हुआ इधर-से-उधर घूम रहा था। उसकी एक-एक दहाड़ दर्शनार्थियों की रगों में भय की बिजली दौड़ा देती, उसके विकराल नुकीले दाँतों को देख कर तो आदमी सुन्न होकर काठ का बन जाता और फिर कमर में धँसा हुआ पेट इस बात की सूचना दे रहा था कि कई दिनों का भूखा यह शेर दरवाज़ा खुलते ही वहाँ बैठे लोगों को कच्चा चबा जायेगा। भय के स्पन्दनों का समुद्र उस मैदान में ठाठें मार रहा था कि बिगुल बज उठा।

मुकुन्ददास ने मैदान में प्रवेश किया। कल का सामान्य-सा दीखने वाला राजपूत आज बादशाह औरंगज़ेब को भी विराट्‌काय, साक्षात् रणचण्डी का अवतार-स्वरूप दीख रहा था। एकाग्रता की ऐसी मूर्ति उन्होंने अपने

जीवनकाल में कभी न देखी थी। बादशाह की आँखें भी उस तेज को सह न पायीं। आतंकित हो उठे वह। "महाराज जसवन्तसिंह कहाँ हैं?" बादशाह को अचानक ख़याल आया।

महामन्त्री ने सलाम करके कहा—"जहाँपनाह, आज उनकी तबीयत कुछ ख़राब है इसी कारण आपको सलाम करने न आ पाये।"

"हाँ, शायद इस द्वन्द्व-युद्ध के परिणाम की कल्पना ने ही उन्हें इतना अस्वस्थ बना दिया।" बादशाह अपना व्यंग्य-बाण छोड़ना न भूले।

इधर जैसे ही मुकुन्ददास धीर-गम्भीर, एकाग्रता की ठोस मूर्ति बना हुआ धीमे क़दमों से शेर के पिंजरे की ओर बढ़ने लगा कि वातावरण हज़ारों दर्शकों की रुकी हुई साँसों से बोझिल हो उठा। पिंजरे का दरवाज़ा खुला, भूखा शेर लपक कर बाहर निकला और आक्रमण के लिए छलाँग लगाने ही वाला था कि पशु की दृष्टि का सामना उन मर्मभेदी, गभीर और अचल युगल-नेत्रों से हो गया जिनमें धीरता, अचलता और निर्भीकता का ऐसा प्रशान्त सागर लहरा रहा था कि जंगल का वह ख़ूँख़ार शेर मानव केसरी के दिव्यांश के सम्मुख परास्त हो भीगी बिल्ली-सा बना चुपचाप पिंजरे के अन्दर चला गया।

बादशाह औरंगज़ेब के साथ-साथ सभी दर्शकगण इस अप्रत्याशित दृश्य को देख फटी आँखों, विस्मित हृदय के साथ एकाएक अपने स्थान पर चित्रलिखित से खड़े के खड़े रह गये। मुकुन्ददास उन्हीं धीर-गम्भीर डगों से पिंजरे के अन्दर गया, शेर एक कोने में सिहरता हुआ दुबकता ही चला गया, यहाँ तक कि मुकुन्ददास उसके सम्मुख आ बैठा। वनराज ने आँखें झुका लीं, दुम हिलाने लगा और फिर अपने मस्तक को उस वीर के पैरों पर रगड़ने लगा। मुकुन्ददास के मुख पर प्रसन्नता की धूप खिल उठी। अपने प्रतिद्वन्द्वी को यूँ गले लगा लिया मानों चिरकाल के बिछुड़े साथी मिल रहे हों। अचानक दर्शकों का जादू टूटा और करतल ध्वनि से ज़मीन-आसमान एक हो उठा।

बादशाह औरंगज़ेब और उनके सभासद् पत्थर की मूर्ति की तरह जड़वत् खड़े रहे। दिलेरख़ाँ ने मौन तोड़ते हुए कहा—"जहाँपनाह, मुकुन्ददास जीत हासिल कर आ रहे हैं।"

बादशाह का चेहरा उतरा हुआ था फिर भी होठों पर कृत्रिम मुस्कान

लाकर बोल उठे—"हाँ, मुकुन्ददास ने अपनी वीरता की मोहर लगा दी। जाओ दिलेरख़ाँ, उन्हें हमारे सामने हाज़िर करो। हम उनसे बहुत ख़ुश हैं।"

बादशाह का सन्देश मुकुन्ददास को प्रभावित न कर पाया। उसी अकड़ के साथ प्रत्युत्तर दिया—"बादशाह से जाकर कह दीजिये कि राजपूत नट या भाट नहीं होते जो किसी को ख़ुश करने के लिए नाटक दिखाते फिरें।"

दर्शकों की भीड़ ने मुकुन्ददास को ऐसा सिर आँखों पर बिठाया कि बादशाह और उनके साथियों की ओर किसी ने पलट कर भी न देखा। बादशाह की तबीयत अचानक ख़राब हो गयी, उनकी सवारी महल की ओर वापिस जा रही थी और महाराज जसवन्तसिंह अपने साथियों के साथ मैदान के अन्दर प्रवेश कर रहे थे।

बादशाह ने सवारी रुकवा कर कहा—"महाराज जसवन्तसिंह, आपका अंगरक्षक सचमुच वीर है। आज से हम उसे नाहरख़ाँ की उपाधि देते हैं।"

जसवन्तसिंह ने सलाम करके कहा—"हुज़ूर, नाहरों के नाहर को आप क्या उपाधि दे सकते हैं भला! वह तो बस राजपूत है और यह स्वयं संसार की बड़ी से बड़ी उपाधि है। प्रसन्नता तो इस बात की है कि आप राजपूत को पहचान गये।"

बादशाह की तबीयत बिगड़ती जा रही थी। वे रास्ते में कहीं और अब ठहर न सकते थे।

अपने स्वामी जसवन्तसिंह का वह प्रगाढ़तम आलिंगन सेवक मुकुन्ददास के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार था और उनका यह वाक्य सबसे बड़ी उपाधि —"मेरा केसरी जीता, सिंह हारा।"

'पुरोधा', जुलाई १९९८ से —वन्दना

सहसा गहराता बादल
एक छोर से छँट गया है,
प्रकाश की एक नन्हीं किरण
झाँक रही है
अरुणिमा की मुस्कान लिये...

(किसी साधक के जन्मदिन पर)

प्रभु की कृपा से नवजन्म तुम्हारे हृदय में अभिव्यक्त हो, तुम्हारे अन्दर अपनी अचञ्चलता और आनन्द भर दे, तुम्हारी सत्ता के सभी भागों को —मन, अन्तर्दर्शन, संकल्प-शक्ति, संवेदना, जीवन और शरीर—सबको अपनी शरण में ले ले। ऐसा हो कि तुम्हारे जीवन का प्रत्येक दिवस उस नवजन्म में विकसित होने और महान् से महानतर पूर्णता पाने का दिवस हो जब तक कि तुम सम्पूर्ण रूप से श्रीमाँ के बालक न बन जाओ। ऐसा हो कि 'प्रकाश' और 'शक्ति' तथा 'उपस्थिति' तुम्हें घेर लें और तुम्हारी रक्षा करें, तुम्हें सँजोये रखें, तुम्हारा पोषण करें जब तक कि तुम्हारा समस्त आन्तरिक और बाह्य अस्तित्व उस एकमेव की गति में परिवर्तित न हो जाये और उनकी 'शान्ति', उनकी 'शक्ति' और उनके 'आनन्द' की अभिव्यक्ति न बन जाये।

—श्रीअरविन्द

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—१८०रु.; तीन वर्ष—५२०रु.; पाँच वर्ष—८६०रु.

अधिष्ठाता : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,

पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st **January 2018**
Rs. 15.00 (Monthly)
Registered: PY/47/2018-20
RNI No.18135/70

A school by **The Vatika Group** vatika

Nature Friendly

"My child is in Grade 2. My son's journey with this school started 3 years back.

What really drew me to the school at the first instance is the calmness that prevails in the atmosphere!

Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy – class rooms in MatriKiran are the most nature friendly, spacious, well ventilated, they open out to green spaces... perfect to stay in communion with nature."

Dr. Nidhi Gogia
Mother of Soham Sharma, Grade 2

ADMISSIONS OPEN
Academic Year 2017-18

ICSE Curriculum

MatriKiran
www.matrikiran.in

Junior School SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

Senior School VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 9

Junior School
W Block, Sec 49, Sohna Rd, Gugaon
+91 124 4938200, +91 9650690222

Senior School
Sec 83, Vatika India Next, Gugaon
+91 124 4681600, +91 9821786363